# सांस्कृतिक राजस्थान





खंड : एक

संयोजक-प्रकाशन योजना

रतन शाह

अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन : कलकत्ता

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

# सांस्कृतिक राजस्थान

## यह प्रकाशन

सम्मेलन मारवाड़ी समाज का अखिल भारतीय संस्थान है। समय-समय पर लोगों के पत्र आते रहते हैं कि सम्मेलन का कोई प्रकाशन है क्या जो राजस्थान के साहित्य और संस्कृति की जानकारी दे सके, समाज के इतिहास के बारे में बता सके। "सम्मेलन के इतिहास" एवम् "समाज के वृहत इतिहास" प्रकाशन की जो योजना थी वह श्री भंवरमलजी सिंघी की अस्वस्था के कारण प्रारम्भ नहीं की जा सकी।

साहित्य, संस्कृति एवम् अन्य कलाओं के क्षेत्र में हमारी उपलब्धियां अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपना स्थान कायम करने की क्षमता रखती है, परन्तु स्वयं हम अनभिज्ञ हैं उनसे। सम्मेलन के अध्यक्ष श्री रामप्रसादजी पोद्दार का आग्रह रहा कि हमें उनके बारे में कुछ सामग्री प्रकाशित करनी चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ उस शृंखला की प्रथम कड़ी है। 'सांस्कृतिक राजस्थान' नाम से एक वृहत ग्रन्थ प्रकाशित करना था। परन्तु उपाध्यक्ष श्री नन्दकिशोर जालान एवम् प्रधानमंत्री श्री बजरंगलाल जाजू का आदेश था कि सम्मेलन के त्रयोदश अधिवेशन (मार्च, 82 टाटानगर) से पहले शुरूआत होनी चाहिये। अतः यह योजना दो-तीन खण्डों में बांट दी गई है।

'सांस्कृतिक राजस्थान' प्रथम खण्ड में चार लेख हैं। राजस्थानी भाषा व साहित्य, राजस्थानी लोक-साहित्य, राजस्थानी स्थापत्य (मन्दिर) और राजस्थानी चित्रकला जिनके लेखक अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी विद्वान् हैं। मुझे विश्वास है कि उपर्युक्त विषयों पर ये लेख पाठकों को विद्वत्तापूर्ण जानकारियां दे पायेंगे।

श्री कालीचरणजी केसान का मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके सहयोग के विना शायद पुस्तक समय पर प्रकाशित नहीं हो पाती। इस योजना में श्री गौरी शंकर मोदी ( बम्बई ) ने विशेष रुचि ली है। प्रेस के अधिकारियों के अतिरिक्त सम्मेलन के श्री छेदीलाल गुप्त एवम् श्री सुरेश कुमार शर्मा का उल्लेखनीय सहयोग मिला है। मैं इन सभी के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ।

अगले खण्ड में राजस्थान के 'इतिहास', 'लोक-कला', 'नृत्य-कला', 'मूर्तिकला' आदि पर सामग्री देने की योजना है। सम्भव है कि मुद्रण की कुछ अशुद्धियां रह गई हों सुधीपाठक उसके लिये क्षमा करें।

—रतन शाह
संयोजक-प्रकाशन योजना
एवम्
उपप्रधान मंत्री
अ० भा० मारवाड़ी सम्मेलन

# अनुक्रमणिका

# राजस्थानी भाषा और साहित्य

डॉ० हीरालाल माहेश्वरी
एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० फिल०, डी० लिट्०
एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

## राजस्थानी भाषा

राजस्थानी भारतीय आर्यभाषा कुल की एक समृद्ध और सम्पन्न भाषा है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय आर्यभाषा काल का विभाजन इस प्रकार किया जाता है : 1. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल ( ईस्वी पूर्व 1500 से 500 ईस्वी पूर्व तक)। ऋग्वेद से इस काल की भाषा का कुछ पता चलता है। यद्यपि उसकी भाषा साहित्यिक है, बोलचाल की नहीं। 2. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल ( 500 ईस्वी पूर्व से 1000 ईस्वी तक )। विभिन्न बोलियों के आधार पर 1500 साल के इस काल के तीन विभाग किए जाते हैं :

(क) 500 ईस्वी पूर्व से 1 ईस्वी तक—पालि या अशोक की धर्मलिपियाँ।

(ख) 1 ईस्वी से 500 ईस्वी तक—साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ, तथा

(ग) 500 ईस्वी से 1000 ईस्वी तक—अपभ्रंश भाषाएं।

मोटे तौर से राजस्थानी का उद्भव विक्रम की 11वीं शताब्दी में हुआ। वर्तमान राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र तथा इनसे लगे हुए सिन्ध, बहावलपुर ( दोनों अब पाकिस्तान में ) और मालवा भू-भाग की तत्कालीन बोलचाल की भाषा से राजस्थानी का विकास हुआ। इस क्षेत्र में प्रचलित उस समय की अपभ्रंश को पश्चिमी अपभ्रंश कहा जाता है। यद्यपि राजस्थानी में कतिपय ऐसे शब्द भी प्रचलित रहे हैं जो वेदों में प्रयुक्त हुए हैं और जिनका प्रयोग अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में नहीं पाया जाता, यथा—गिरिआरक=सुमेरु पर्वत ( आरक स्वर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है ), प्राचीन वरहिस=इन्द्र, दलम=इन्द्र, तविख ( तविष )=स्वर्ण ( द्रष्टव्य-राजस्थानी सबद कोस, भूमिका ), तथापि विकास-क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि से उसका सम्बन्ध प्राकृत से विशेष है। प्राकृतों में शौरसेनी, मागधी, अर्द्ध-मागधी

महाराष्ट्री और पैशाची की चर्चा मुख्यतः की जाती है। इनमें राजस्थानी का विशेष सम्बन्ध शौरसेनी प्राकृत से है। शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश और गुर्जरी या गुर्जर अपभ्रंश विकसित हुई। शौरसेनी अपभ्रंश मथुरा मण्डल की बोली थी और गुर्जर अपभ्रंश गुर्जर मण्डल की। यहाँ गुर्जर का तात्पर्य देश के पश्चिमोत्तर क्षेत्र से है, जिसके अन्तर्गत वर्तमान गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, सिंध और पंजाब ( अब पाकिस्तान में ) के भूभाग सम्मिलित थे। भाषा के सन्दर्भ में गुर्जर शब्द प्रदेश सूचक ही है जाति-सूचक नहीं, जैसा कि कतिपय विद्वान अब तक मानते आए हैं। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—Dr. Dashrath Sharma : Rajsthan through the Ages, PP. 108-119 )

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि जो प्राकृत अशोक के समय गुजरात प्रान्त में ( एवं सम्भवतः मारवाड़ प्रान्त में भी ) बोली जाती थी, वह शौरसेनी या मध्यदेशीय प्राकृत से कुछ अलग या विभिन्न थी ( डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी : राजस्थानी भाषा, पृ० 47 )।

प्राप्त अपभ्रंश साहित्य के आधार पर उसको पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी रूपों में विभाजित किया जाता है। यहाँ यह भी लक्ष्यनीय है कि 9वीं से 12वीं सदी तक पश्चिमी अपभ्रंश पूरे उत्तर और पूर्व भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी और उसको यह महत्वपूर्ण स्थान उत्तर भारत के राजपूत राजघरानों और उनके गौरव के कारण विशेष रूप से मिला। (Dr. S. K. Chatterji Origin and Development of the Bengali Language, Vol. I, P. 113.)

इसके कुछ पश्चात् भी इस भाषा का एक ऐसा सामान्य रूप रहा जिसका मूलाधार पश्चिमी अपभ्रंश था। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि अब तक अपभ्रंश का जो साहित्य प्राप्त हुआ है, उसका बहुलांश पश्चिमी अपभ्रंश में है। यह पश्चिमी अपभ्रंश एक प्रकार से गुर्जर अपभ्रंश ही है। इस गुर्जर अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास हुआ। शौरसेनी अपभ्रंश पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियों का मूलाधार रही।

यों तो अपभ्रंश का युग ईस्वी सन् 1000 तक है तथापि उसके बाद भी 200-250 सालों तक इसमें काफी रचनाएँ लिखी जाती रहीं। दूसरे, विकासमान देश भाषाओं पर उसका प्रभाव रहा, जो नितान्त स्वाभाविक ही

था। राजस्थानी की आरम्भिक रचनाओं में अपभ्रंश का यह प्रभाव काफी मुखर है।

भाषिक दृष्टि से लगभग संवत् 1100 से लेकर 1500 तक राजस्थानी और गुजराती—दोनों एक ही थी, उनमें कोई अन्तर नहीं था। यह तथ्य सर्वमान्य है। इन 400 सालों की भाषा के अनेक नाम दिए गए हैं, यथा—मरु-गुर्जर, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, जूनी गुजराती, मरु-सोरठ आदि। इनमें मरु-गुर्जर नाम सर्वाधिक संगत है, क्योंकि इससे गुजरात और मरु-प्रदेश दोनों की भाषाओं का बोध होता है। विक्रम 15वीं शताब्दी से गुजराती और राजस्थानी—दोनों भाषाएँ अपना-अपना पृथक् स्वरूप निर्माण करने लगीं और इस शताब्दी के अन्त तक उनमें पर्याप्त पार्थक्य हो गया। इस प्रकार राजस्थानी का स्वतंत्र अस्तित्व संवत् 1500 के आसपास प्रकट हुआ। इन 400 सालों में रचित साहित्य गुजराती और राजस्थानी दोनों की सम्मिलित धरोहर है।

राजस्थानी राजस्थान और मालवा में बोली जाती है। उसके चारों ओर निम्नलिखित भाषाएँ प्रयुक्त होती हैं—उत्तर में पंजाबी, पश्चिमोत्तर में मुलतानी या पश्चिमी पंजाबी, पश्चिम में सिन्धी, दक्षिण-पश्चिम में गुजराती दक्षिण में गुजराती और मराठी, दक्षिण पूर्व में मराठी और बुन्देली, पूर्व में बुन्देली और व्रज, उत्तर-पूर्व में बांगरू या हरियाणवी। राजस्थान के भरतपुर, धौलपुर और करौली क्षेत्रों में व्रजभाषा का भी प्रभाव है। डूँगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ क्षेत्रों में बोली जाने वाली भीली पर किंचित् गुजराती प्रभाव है। इसी प्रकार बांगरू या हरियाणवी भी राजस्थानी और खड़ी बोली का मिश्रण है, उसका झुकाव राजस्थानी की ओर ही अधिक है। खड़ी बोली में भी राजस्थानी की अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं जो वर्तमान साहित्यिक हिन्दी में नहीं पाई जातीं। उदाहरणार्थ, 1. मूर्धन्य णकार की अधिकता, 2. ळकार का प्रयोग, 3. वर्तमान और अपूर्णभूत आदि कालों में तिङ्तीय या अकृदन्तीय रूपों का प्रयोग, जैसे—'आता है' के स्थान पर 'आवै है' और 'मारता था' के स्थान पर 'मारै थो'। इनके अतिरिक्त इन भाषाओं और बोलियों के साथ भी राजस्थानी का गहरा सम्बन्ध है:

क—बंजारी—यह राजस्थान से बाहर रहने वाले बंजारों की भाषा है जिसके स्थानानुसार अनेक भेद हैं। ये बंजारे मूलतः राजस्थान के निवासी थे और व्यापार के लिए देश के दूर-दूर भागों तक पहुँचते थे। पिछली 2-3

शताब्दियों में वे उन-उन प्रदेशों में बस गए और वहाँ के स्थायी निवासी हो गए, परन्तु अपनी भाषा को अपनाये रहे।

ख—गूजरी—यह विशेषतः हिमालय की तराई में बसे हुए गूजरों, अहीरों आदि की बोलियों का समूह है जिस पर राजस्थानी का विशेष प्रभाव है।

ग—सांसियों ( या जिप्सियों ) की बोलियों का संबंध भी राजस्थानी से है। इनके पहाड़ी, भामटी, वेलदारी, ओडकी, लाडी, मछुरिया, सांसी, कंजरी, नटी, डोमी आदि अनेक भेद-प्रभेद हैं।

घ—पहाड़ी वर्ग की भाषाओं—नेपाली, कुमाऊँनी, गढ़वाली आदि के साथ राजस्थानी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'आधुनिक नेपाली में खसकुरा और राजस्थानी का समावेश है'। 'राजपूतों के मेल से माझखण्ड की भाषा पर राजस्थानी की छाप पड़ी है। ···नेपाली का प्रारम्भिक स्वरूप अभी तक प्रकाश में नहीं आया क्योंकि उस वक्त की कोई रचना उपलब्ध नहीं है किन्तु सोलहवीं सदी के कुछ दानपत्रों में लिखी हुई माझखण्ड की बोली के साथ राजस्थानी का निकटत्व सिद्ध करना मुश्किल नहीं है'। (प्रो० दिल्लीरमण रेग्मी : नेपाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 4, 5, 7)। दक्खिनी हिन्दी से भी राजस्थानी का सम्बन्ध है। ठेठ राजस्थानी शब्दों का प्रयोग तो मुल्ला दाऊद दलमई कृत चन्दायन ( रचनाकाल लगभग संवत् 1436-38 ) तथा जायसी के पद्मावत ( रचनाकाल-अनुमानतः संवत् 1602 ) तक में मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मध्ययुग में दक्षिण के अतिरिक्त देश के पूर्व और पूर्वोत्तर क्षेत्रों में भी राजस्थानी का प्रचलन किसी न किसी रूप में था। कबीर-वाणी पर, विशेषतः साखियों पर राजस्थानी का रंग बहुत गहरा है, यह बहुत पहले ही सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है ( स्वामी, रामसिंह, पारीक : ढोला-मारू रा दूहा की प्रस्तावना )। इसका मुख्य कारण राजस्थान-वासियों का इन क्षेत्रों में आवागमन और फैलाव है। इस सम्बन्ध में और अधिक खोज की आवश्यकता है, जिससे भाषिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का स्वरूप समुचित रूप से स्पष्ट हो सकेगा।

राजस्थानी के प्रसार और प्रभाव की दृष्टि से यहाँ उन पुराने शिलालेखों का उल्लेख करना भी आवश्यक जान पड़ता है जिनमें राजस्थानी का भी प्रयोग किया गया है। 'राउल वेल' में सात नायिकाओं का नखशिख वर्णन

है। यह सम्पूर्ण रचना एक शिलालेख पर उत्कीर्ण है। यह शिला धार ( मालवा ) में प्राप्त हुई थी और इस समय प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजिम, बम्बई में रखी हुई है। इस लेख का समय 11वीं सदी ईस्वी माना गया है। डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी और डा० माता प्रसाद गुप्त ने इसका पाठ प्रकाशित करवाया है। (क्रमशः भारतीय विद्या, बम्बई, भाग 17 अंक 3-4, पृ० 130-146 तथा 'राउल वेल और उसकी भाषा,' मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद)। इसमें राजस्थानी का प्रयोग अत्यन्त स्पष्ट है। दूसरा शिलालेख भी विना संवत् का है पर लीपिशास्त्रीय और भाषा वैज्ञानिक आधार पर 11वीं-12वीं सदी का माना जा सकता है। यह शिलालेख दामोह जिले का है और नागपुर म्यूजियम में सुरक्षित है। शिलालेख पहले राजस्थानी भाषा में है और बाद में उसके नीचे लेख का संस्कृत रूपान्तर भी दिया गया है, जो शिलालेख लिखवाने वाले विश्वामित्र गोत्री गुहिल विजयपाल के मातृभाषा-प्रेम का सजीव नमूना है। शिलालेख का मूल पाठ इस प्रकार है :

विसमित्र गोत्र उत्तिम चरित विमल पवित्तो गाण।
अरघड़ धड़णो संसि जय द्ववडो भूवाण ॥
द्ववड़ो पटि परियिउं खत्तिय विज्जपालु।
जोणे काइउ रणि विजिणिउ तह सुअ भुत्रणपालु ॥
कलचुरि गुजर ससरह दक्षिण पईं सुख अंड।
चुहरा अहरण निजिणण हरसि राअ भुत्रदंड ॥
संधरि भंगरि रणरहसु गउ हरिसरुअ कि अधु।
हपइत पठियर सुहउ सुमुह न कोउ समथु ॥
जेणे संजिउ जग पउरिणउ ग्राम महागढ़ हेठि।
विजयसीह सुर अठिअह अरियण निअहित पेठि ॥
जो चित्तोड़हं जुज्झिअउ जिण ढिलीदल जित्तु।
सो सु पसंसहि रभ अकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु ॥
खोदिय गुजर गौदहइ कीअ अधिअं मारि।
विजयसीह कित संहलहु पौरिस वह संसारि ॥
भुंभुक देवह पअ पणधि पअडिअ कित्त समब्व।
विजयसीह दिढ़ चित्तु करि आरम्भिअ सुख सब्ब ॥

अर्थात्—लेख में बताया गया है कि 12वीं सदी में किसी विश्वामित्र गोत्री गुहिल विजयपाल ने 'काइ' नामक वीर को हराया था। उसका लड़का

भुवनपाल था और नाती हर्षराज। इस हर्षराज ने अपने भुजदण्ड से कालंजर, डाहल और गुर्जर तथा दक्षिण देशों को जीता था। वह संगर-भंगर=युद्ध को तहस-नहस करने वाला था। उसके रणरंभस के सामने कोई भी खड़ा नहीं रह पाता था। उसने महागढ़ को जीता, पौरजनों को खुश किया, शत्रुओ को मार भगाया। चित्तौड़ से लड़ाई लड़ी। दिल्ली दल को जीत लिया। शक्तिशाली गुर्जरों को खदेड़ दिया और गोदहों को मार भगाया। इस प्रकार विजयसिंह ने अपने पौरुष से कीर्ति पाई। वह भुभुकदेव का भक्त था। उसीके पदों की कृपा से उसने यह कीर्ति हासिल की और दृढ़ चित्त से सम्पूर्ण सुखों का उपभोग किया। अस्तु।

इसमें तत्कालीन राजस्थानी ( मरु-गुर्जर ) की प्रवृत्तियों का रूप लक्षित किया जा सकता है।

तीसरा लेख नाथूसर ( बीकानेर ) का है और संवत्-निर्देश होने के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह लेख राजपूतों में वैर-प्रतिशोध लेने की प्रथा का उल्लेख करते हुए किसी प्रतापसिंह ( पाता ) और खींवसिंह ( खींवो ) के प्रतिशोध में हुई लड़ाई में झुझार हुए रांगड़ कुसलसिंह गोरधनोत भाटी की मृत्यु पर हुई सती का स्तम्भ है। लेख का मूल पाठ इस प्रकार है :

> "समत 1280 वेरषे मती माह सुद्ध 2, रागड कुसलो गोरधनत काम यायो छै गां धनेससर माह, रगड़ कुसलो रणधीर त झुझार हवा छै पाता अर षीयो रै वैरे महे, कम याया भाटी कस ( ल ) सिंघ अषराज तरै मह डऊ ।। कामय यया छ ।।"

इसमें बोलचाल की राजस्थानी का स्वरूप द्रष्टव्य है।

नाथूसर से कुछ मील पर ही स्थित बीकानेर के ही दूसरे गांव वेरासर में कुएँ पर की एक देवली पर संवत् 1161 विक्रमी का एक दूसरा लघु लेख है जो संवत् क्रम से नाथूसर के लेख से 119 वर्ष पूर्व का है। इस लेख की मूल पंक्ति इस प्रकार है :

"संवत 1161 ( वर ) ष फ ( ग ) ण सद 12 सनवर सुहागु राषसण।" अर्थात् यह लेख अपने सुहाग की रक्षा के लिए सती हुई किसी अमर सुहागन की यादगार है। ( मरुवाणी, जयपुर, वर्ष 9 अंक 1-3, जनवरी-मार्च, 1969 में प्रकाशित आचार्य परमेश्वर सोलंकी के लेख 'शिलालेखों में प्रयुक्त राजस्थानी

भाषा' से साभार )। स्पष्ट है कि आरम्भिक काल में राजस्थानी भाषा का प्रयोग शिलालेखों में भी होता था। दूसरे इसका प्रयोग राजस्थान के इतर भागों में भी होता था।

राजस्थानी, की प्राचीन परम्परा, प्रसार और प्रभाव का पता एक और बात से भी चलता है। आचार्य हेमचन्द्र ( संवत् 1145-1229 ) द्वारा देशीनाममाला में दिए गए अनेकशः शब्द आज भी किंचित् रूप भेद से राजस्थान में प्रयुक्त होते हैं। सामान्य जनजीवन में प्रचलित वोलचाल के शब्द ही देशीनाममाला के संकलन के प्रमुख आधार रहे हैं। हेमचन्द्र ने लोक में व्यवहृत और साहित्य में अव्यवहृत शब्दों की गणना इस कोष ग्रन्थ में की है ( देखें—डॉ० शिवमूर्ति शर्मा : आचार्य हेमचन्द्र रचित देशीनाममाला का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन )। नीचे देशीनाममाला ( भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, द्वितीय संस्करण, सन् 1938 ) में दिए गए कतिपय शब्द और उनके प्रचलित राजस्थानी रूप दिए जाते हैं :—

| अग्घाणो | 1.19 | ( अघायो ) | झाडं | 3.57 | ( झाड़ ) |
|---|---|---|---|---|---|
| अत्थग्घं | 1.54 | ( अथाघ ) | टिक्कं | 3.3 | ( टीको ) |
| आरोग्गिअं | 1.69 | ( आरोगणो ) | टुंटो | 4.3 | ( टूंटो ) |
| आसंघा | 1.63 | ( आसंग ) | टोक्कणं | 4.4 | ( टोकणो ) |
| उअअं | 1.88 | ( ओजू, ऋजु ) | डग्गलो | 4.8 | ( डागळो ) |
| उग्घाओ | 1.126 | ( उगाई ) | डंडओ | 4.8 | ( डांडो ) |
| उच्चुल्लं | 1.127 | ( उचाळो ) | डलो | 4.7 | ( डळो ) |
| उड्डो | 1.85 | ( ओड ) | डिड्डुरो | 4.9 | ( डेडर ) |
| उंडं | 1.85 | ( ऊंडो ) | डुंगरो | 4.11 | ( डूंगर ) |
| उत्थला | 1.93 | ( उथळणो ) | डुंबो | 4.11 | ( डूम ) |
| उव्विवं | 1.127 | ( ऊवेड़ो ) | डोला | 4.11 | ( डोलो ) |
| उब्भुआणं | 1.105 | ( उफणतो ) | डोलो | 4.9 | ( डोळो ) |
| उव्वरिअं | 1.132 | ( उबरणो ) | ढंकणी | 4.14 | ( ढकणी ) |
| एक्को | 1.144 | ( एको ) | तक्कणा | 5.4 | ( तकणो ) |
| ओआली | 1.164 | ( ओळी ) | ताला | 5.10 | ( तळेड़ो ) |
| ओज्झरी | 1.157 | ( ओझरी ) | थक्को | 5.24 | ( थका ) |
| ओड्ढणं | 1.155 | ( ओढणो ) | थट्टी | 5.24 | ( थाट ) |
| ओवरो | 1.157 | ( ओवरो, ओवरी) | थरहरिअं | 5.27 | ( थरहरणो ) |

| | | | |
|---|---|---|---|
| कच्छरो | 2.2 ( कचरो ) | परंडा | 6.5 ( परड़ो ) ( परड़ ) |
| कुक्कुडो | 2.37 ( कूकड़ो ) | पिंचू | 5.46 (पींजू ) ( पींझू ) |
| खज्जिअं | 2.78 ( खजेड़ी ) | पेंडारो | 6.58 ( पीडार ) |
| गंडीरी | 2.82 ( गंडेरी ) | बप्पीहो | 6.90 ( वावहियो ) |
| घग्घरं | 2.107 ( घाघरो ) | बुक्का | 6.94 ( बुक्को ) |
| घरिल्ली | 2.106 ( घरणी, घरआळी, घरवाली ) | भाउज्जा | 6.103 ( भावज ) |
| | | भुंडो | 6.106 ( भूंडो ) |
| चूडो | 3.18 ( चूड़ो ) | मट्ठो | 6 112 ( मट्ठो, माठो ) |
| छिणालो | 3.27 (छिणालो, छिणाल) | मत्तवालो | 6.122 ( मतवालो ) |
| झंखरो | 3.54 ( झंखड़ो, झंखड़ ) | माणिअं | 6.130. (माण्यो, माणनो) |
| झडी | 3.53 ( झड़ी ) | मुंडा | 6.133 ( मुंडा, मुंडी ) |
| वट्टा | 7.31 ( वाट, वाट ) | हल्लप्फलिअं | 8.59 (हलपल, हलपलाणो) |
| सुघिऊँ | 8.37 ( सूंघेड़ो ) | हुडो | 8.70 ( हुड )। |
| हल्लिऊं | 8.62 ( हालणो ) | | |

कतिपय प्रयोगों के आधार पर राजस्थानी के पूर्वी और पश्चिमी भेद की चर्चा की जाती है। विक्रम की 15वीं शताब्दी और उसके वाद की भी अनेक रचनाओं में संबंध सूचक रा, रो, री और का, को, की तथा भविष्य-सूचक क्रियाओं में सूं, सी, सो के साथ ला, ली, लो के प्रयोग मिलते हैं। कालान्तर में रा, रो, री और सूं, सी, सो के प्रयोग पश्चिमी राजस्थानी में और का, को, की तथा ला, ली, लो के प्रयोग पूर्वी राजस्थानी में अपेक्षाकृत अधिक होने लगे। आधुनिक काल की रचनाओं में भी दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं और राजस्थान के हर क्षेत्र के निवासी उनको भलीभांति समझते हैं। राजस्थानी की एकरूपता का यह एक और प्रमाण है।

किसी भाषा का नाम या तो देश या प्रान्त के नाम पर पड़ता है या उस भाषा की साहित्य में प्रयुक्त मुख्य उपभाषा के नाम पर। इस भाषा का पुराना नाम मरुभाषा था। इसके लिए मरुवाणी, मरुभूमि भाषा, मरुदेशीया भाषा आदि नाम भी प्रयुक्त हुए हैं। आठवीं शताब्दी में उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला नामक एक कथा ग्रन्थ लिखा था जिसमें अठारह देश-भाषाओं को गिनाया गया है। उनमें मरुदेश की भाषा की भी गिनती की गई है। इस प्रकार मरुभाषा प्राचीनकाल से एक स्वतंत्र भाषा के रूप में समादृत रही है।

स्वतंत्रता से पूर्व राजस्थान अनेक छोटे-बड़े राज्यों और ठिकानों में बँटा हुआ था। ब्रिटिश शासनकाल में यह प्रदेश 'राजपूताना' नाम से प्रसिद्ध रहा। वर्तमान 'राजस्थान' विश्वविद्यालय का पुराना नाम 'राजपूताना' विश्वविद्यालय ही था। इस प्रदेश के लिए 'राजस्थान' नाम कर्नल टाड के 'एनल्स एन्ड एन्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' से विशेष प्रसिद्धि में आया। इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1829 में हुआ था। आगे चलकर इण्डियन नेशनल कांग्रेस (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) ने भी यही नाम स्वीकार किया तथा सरकार ने भी इसी को मान्यता दी।

'राजस्थान' शब्द का प्राचीन प्रयोग—'राजस्थानीयादित्य' विक्रम संवत् 682 में उत्कीर्ण वसन्तगढ़ (सिरोही) के शिलालेख में प्राप्त होता है। मुंहणोत नैणसी (संवत् 1667-1727) की ख्यात तथा चारण वीरभाण रतनू (सवत् 1745-1792) कृत राजरूपक में राजस्थान और राजसथान शब्द प्रयुक्त हुए हैं:—

(क) तठा पछै राणो अमरसिंघ उदैपुर आयो। तठा पछै राजस्थान उदैपुर हुवो।

(ख) थिर ते राजसथान, महि इक छत्र भोम सामथ। एके आण अखंड, खंडण माण प्राण नवखंड।

किन्तु यहाँ इसका प्रयोग 'राज का स्थान' या राजधानी के अर्थ में हुआ है। रूपभेद से इस शब्द का यह अर्थ बहुप्रयुक्त था। जब प्रदेश के रूप में 'राजस्थानी' नाम बहु-प्रचलित हुआ, तो सामान्यतः इसकी भाषा को भी राजस्थानी कहा गया। यही नाम स्वीकृत हुआ, विद्वानों ने भी इसी नाम को मान्यता दी।

यद्यपि भाषा के लिए राजस्थानी नाम अपेक्षाकृत नया समझा जाता है तथापि राजस्थानी भाषा का प्रयोग 'राजस्थानी' नाम के साथ एक पुराने काव्य में भी मिलता है। इस सम्बन्ध में यह कथन द्रष्टव्य है:—राजस्थानी का उल्लेख: अशरफ की भाषा आज की खड़ी बोली के निकट है। उस पर मराठी का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। नौसरहार (रचनाकाल—सन् 1504 ईस्वी) प्रकट करता है कि दक्खिनी धीरे-धीरे रूढ़ होती जा रही थी। अशरफ हिन्दी की कुछ बोलियों से परिचित था। उसने एक जगह 'राजस्थानी' का उल्लेख करते हुए उसकी दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं।

राजस्थानी का एक बोली या भाषा के रूप में इस प्रकार का उल्लेख शायद ही किसी काव्य में हुआ हो :

मत जाये मुझ थें दौलत न्हास ( न्हासना=भागना )
हात की रोजी मुंह का घांस
थाने की यूं आस पकड़
राजस्तानी लेते पड़
'राजकुंअर का लाग्या ध्यान,
वीसरग्या हौर सब ग्यान।' —डा० श्रीराम शर्मा : दक्खिनी हिन्दी का साहित्य, पृ० 186)।

वर्तमान में राजस्थानी भाषा-भाषी राजस्थान और मालवा में तो रहते ही हैं, राजस्थान के बाहर भी बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। भारत का शायद ही ऐसा कोई स्थान हो जहाँ राजस्थानी व्यापारी या राजस्थानी सैनिक न पहुँचा हो। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि व्यापार के प्रमुख केन्द्रों से लेकर छोटे-छोटे गाँवों तक में राजस्थानी व्यापारी मिलेगा। मध्ययुग में भी राजस्थानी भाषा-भाषियों का व्यापक प्रसार रहा, यह हम देख चुके हैं।

देश में अन्यत्र राजस्थानी भाषा-भाषी 'मारवाड़ी' नाम से विशेष प्रसिद्ध रहा है। इस सम्बन्ध में डॉ० ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा है कि 'साधारणतः 'मारवाड़ी' कहने से सारे राजपूताना के निवासी अथवा वहाँ की किसी भी उपभाषा के बोलने वालों का बोध होते देखा गया है' ( राजस्थान का भाषा-सर्वेक्षण, पृ० 13 )। इस प्रकार 'मारवाड़ी' के अन्तर्गत न केवल राजस्थान-वासी और राजस्थानी-भाषा-भाषी ही, प्रत्युत राजस्थानी की किसी भी बोली अथवा उससे घनिष्ठरूपेण संबंधित या मिलती-जुलती भाषा के बोलने वालों की भी गणना है। हरियाणवी का राजस्थानी से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः हरियाणवी भाषा-भाषी भी 'मारवाड़ी' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'अखिल भारतीय मारवाड़ी सम्मेलन' ( All India Marwari Federation ) का 'मारवाड़ी' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है।

राजस्थानी की शाखाओं में मारवाड़ी-मेवाड़ी, जयपुर-हाड़ौती, भीली या बागड़ी, मालवी, मेवाती-अहीरवाटी की गणना है। वर्तमान में इसकी एक अन्य बोली उत्तराधी या गंगानगरी जिला गंगानगर और उसके आसपास के क्षेत्रों में विकसित हो रही है। इसका विकास विशेषतः गंगनहर के निर्माण-काल से होने लगा और सन् 1947 के पश्चात् तो और तीव्र गति से हुआ है।

इस पर हरियाणवी और किंचित् पंजावी का प्रभाव है। ( प्रस्तुत लेखक इस पर शोध कर रहा है )। ध्यातव्य है कि इन वोलियों में परस्पर किंचित् उच्चारण-भेद तो हैं, व्याकरणिक भेद नहीं। व्याकरण का मूल ढांचा सवका एक है। राजस्थानी भाषा की एकरूपता का प्रमाण इसका 1. गद्य, 2. लोकसाहित्य, विशेषतः लोकगीत, 3. सन्त साहित्य, तथा 4. साहित्यिक भाषा है। साहित्यिक भाषा में तो आश्चर्यजनक रूप से एकरूपता रही है। इसके लिए विभिन्न क्षेत्रों के कवियों की भाषा देखी जा सकती है। ओपा आढ़ा ( गाँव पेसवा, सिरोही ), संकरदान सामौर ( वोवासर, सुजानगढ़, वीकानेर ), रामनाथ कविया ( सटावट, अलवर ), सूर्यमल्ल मिश्रण ( वून्दी ) सगराम ( जैसलमेर ) की कृतियों की भाषा इसका प्रमाण है। ये सभी कवि उन्नीसवीं शताब्दी के हैं। वोलचाल की भाषा आठवें-दसवें कोस पर किसी न किसी रूप में वदल जाती है। अतः राजस्थानी में भी शाखा-प्रशाखाओं का होना स्वाभाविक ही है। इस स्वाभाविकता का एक और भी कारण है—राजस्थान का एक विस्तृत प्रान्त होना तथा भौगोलिक कठिनाइयों के कारण आवागमन की विशेष सुविधा का न होना। मध्यकाल के सन्दर्भ में तो इस वात की सार्थकता स्वयं स्पष्ट है।

राजस्थानी की शब्द-सम्पदा विशाल तो है ही, उसका शब्द-भण्डार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। एक-एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों और उनके अर्थभेदों से राजस्थानी की अभिव्यक्ति-क्षमता का पता चलता है। सूक्ष्म अर्थभेदों के साथ पर्यायवाची शब्दों से राजस्थानी वहुत ही सम्पन्न और समृद्ध भाषा है। लुक्खी ( लुखी ) रोटी, भांकेड़ी रोटी, चौपड़ेडी रोटी, गिळगिच करेड़ी रोटी का सूक्ष्म अर्थभेद स्पष्ट है। इसी प्रकार जूतों के सम्बन्ध में जूती, पगरखी, खल्ला, खेटर, खूँसड़ा, लिगतरा, जरवा, मोचड़ी आदि शब्दों का सूक्ष्म अन्तर महत्त्वपूर्ण है। पर्यायवाची शब्दों की दृष्टि से भी राजस्थानी महान् है। उदाहरणार्थ—सूरज, चन्द्रमा, वुध, तरवार, दाता, समुद्र, शत्रु, सिंध, परवत, पाणी आदि के अनेक पर्यायवाची शब्द देखे जा सकते हैं। अनेकशः अर्थों के लिए कागलौ, चढणौ, जोग, वैठणौ, वहियोड़ौ, वाट, निकालियोड़ौ, दिन, लागणौ, विसम, संख, संभालुणो, सत, सजियोड़ौ, सारंग, सार, सिद्ध, कुत्तौ आदि शब्द द्रष्टव्य हैं ( इन शब्दों के लिए देखें—श्री सीताराम लालस कृत 'राजस्थानी शब्द कोश' )। शब्द-विशेष के अनेक रूपभेद भी राजस्थानी की विशेषता है। कई-कई शब्द तो ऐसे हैं जिनके

46-47 तक रूपभेद मिलते हैं, जैसे—पहुँचाणो, बोलाणो आदि। दस-दस, बारह-बारह रूप तो साधारण बात है, ऐसे कुछ शब्द द्रष्टव्य हैं : छाव, जुधिष्ठिर, झूंबौ, दिनंद, दीयौ, पपइयो, पहरणौ, पछताणौ, बहस, बहणौ, विसम, विरुदाणौ, विकसाईजणौ, समरणौ आदि। ( देखें—वही )।

इसी प्रकार, मुहावरे और कहावतें भी भाषा की समृद्धि के द्योतक हैं। 'राजस्थानी शब्द कोश' में इनका प्रभूतशः प्रयोग देखा जा सकता है। राजस्थानी कहावतों पर तो कई पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

किसी भी भाषा की व्यापकता, एकरूपता और निरन्तरता उसके गद्य साहित्य पर भी निर्भर करती है। सौभाग्य से राजस्थानी का गद्य साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। उसकी परम्परा भी प्राचीन है और निरन्तर चलती आई है। शिलालेखों का उल्लेख हो चुका है। इसके अतिरिक्त पट्टे-परवाने, लिखत, पत्र, वात, ख्यात, विगत, हकीकत आदि के रूप में राजस्थानी गद्य अनेक प्रकार से प्रकट हुआ है। दूसरे, साहित्येतर विषयो की शब्दावली की दृष्टि से भी राजस्थानी का भण्डार भरा-पूरा है। यह उसका एक और सबल पहलू है। विभिन्न विद्याओं और ज्ञान-विज्ञान के अनेक विषयों से सम्बन्धित राजस्थानी में अनेकशः ग्रन्थ मिलते हैं। उनकी शब्दावली तत्-तत् विषयों के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में यदि और खोज की जाए, तो अनेक महार्घ मणियाँ हाथ लगेंगी। इसी प्रकार, व्यापारी वर्ग में प्रचलित रूक्कों, हुण्डियों आदि की शब्दावली का लाघव, पूर्णता और वैज्ञानिक प्रयोग आश्चर्य में डालने वाला है।

# राजस्थानी साहित्य

## काव्य

राजस्थानी साहित्य का इतिहास निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया जा सकता है :—

1. आरम्भिक काल ( संवत् 1100 से 1500 तक )
2. मध्यकाल ( संवत् 1500 से 1900 तक )
3. आधुनिक काल ( संवत् 1900 से वर्तमान समय तक ) :

(क) संवत् 1900 से संवत् 2004-2007 तकः प्रथम उत्थान :

(ख) संवत् 2004-007 से वर्तमान समय तक : द्वितीय उत्थान :

विषय और शैली की दृष्टि से आरम्भिक और मध्यकाल के काव्य का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

1. जैन काव्य
2. प्रेम काव्य ( लौकिक काव्य )
   (क) ज्ञात, और
   (ख) अज्ञात कवियों की कृतियाँ
3. चारण काव्य, जिसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—
   (क) ऐतिहासिक—वीररसात्मक काव्य तथा
   (ख) पौराणिक—धार्मिक काव्य
4. आख्यान काव्य
5. सन्त काव्य
   (क) विभिन्न सम्प्रदाय-प्रवर्तकों और उनके अनुयायियों द्वारा रचित,
   (ख) सम्प्रदायेतर कवियों द्वारा रचित
6. लोक काव्य

आधुनिक काल में (क) परम्परागत काव्य के अतिरिक्त, (ख) नवीन विचारधाराओं, मान्यताओं और परिवर्तन मान-मूल्यों से सम्बन्धित काव्य प्रभूत परिमाण में लिखा गया और लिखा जा रहा है। राजस्थानी लोक-काव्य पृथक् अध्ययन का विषय है, अतः इसे यहाँ नहीं लिया गया है।

## 1. जैन काव्य

अधिकांश जैन काव्य जैन धर्म पर आधारित हैं। ऐसे काव्यों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जैन धर्म में स्वीकृत सिद्धान्तों के अनुसार जीवन विताने के संकेत मिलते हैं। चरित्र-निर्माण और धर्म पर आस्था इनका ध्येय है। जैनागम चार भागों में विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग कहते हैं। 1. प्रथमानुयोग, 2. कारणानुयोग, 3. चरणानुयोग, और 4. द्रव्यानुयोग। इनमें क्रमशः 1. कथाएँ और पुराण, 2. कर्म-सिद्धान्त और लोक-विभाग, 3. जीव का आचार-विचार और चेतना, चेतन द्रव्यों का स्वरूप तथा, 4. तत्वज्ञान और तत्वों का निर्देश विषय सम्मिलित हैं। काव्य की दृष्टि से इन सबमें— प्रथमानुयोग, जिसे धर्म-कथानुयोग भी कहते हैं, का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके अन्तर्गत सदाचार और धर्म का आचरण करने वाले स्त्री-पुरुषों के वर्णन रहते हैं। यह जनसाधारण और अपढ़ व्यक्तियों के लिए सुगम और बोधगम्य है जबकि अन्य तीनो अनुयोगों में कुशाग्र बुद्धि और विद्या की आवश्यकता रहती है। जैन धर्म चरितानुयोगी है और जैन काव्य में चरितानुयोग का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस कारण इस काव्य का बहुत बड़ा भाग तीर्थंकरों, बलदेवों, वासुदेवों, मुनियों, आचार्यों, सतियों, धर्मप्राण राजाओं और श्रेष्ठियों से सम्बन्धित चरित काव्यों और कथा काव्यों के रूप में पाया जाता है। ऐसे काव्यों में विविध प्रकार से वर्णित पापों के दुष्परिणाम, पुण्य के प्रसाद तथा धर्म-पालन की महत्ता जानकर साधारण जन सहज ही धर्मोन्मुख होता है और तदनुकूल धर्मपालन में कटिबद्ध होता है। यही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है। भाषा भी उन्होंने बोलचाल की ली। इस काव्य की प्रेरणा का मूल केन्द्र धर्म है और उसका मुख्य स्वर धार्मिक है। रस की दृष्टि से यह काव्य मुख्यतः शान्त रस प्रधान है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन कवि अपने पौराणिक या धार्मिक स्रोत की मूल कथा में परिवर्तन नहीं करता। वर्णन और विस्तार अवश्य उसकी कल्पना की उपज होते हैं। उसकी भाषा-शैली में भी अन्य समकालीन कवियों की कृतियों से किंचित् अन्तर पाया जाता है। कतिपय काव्य-रूढ़ियों के प्रयोग ( जैसे पूर्वजन्म/जन्मों विषयक उल्लेख और कथाएँ ) प्रायः सभी प्रबन्धात्मक काव्यों में मिलते हैं। विषय, भाषा-शैली, स्रोत और उद्देश्य की दृष्टि से जैन-काव्य, उल्लिखित शेष काव्य-परम्पराओं से भिन्न लक्षित होता है। मोटे रूप से जैन काव्य को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. चरित काव्य या कथा काव्य। ऐसे काव्य जैन पुराणों में वर्णित महापुरुषों तथा जैन परम्परा में प्रचलित विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं। ये काव्य विभिन्न नामों से लिखे गए हैं, यथा—रास, चौपई, ( या चौपाई ) ढ़ाल, पवाड़ा, सन्धि, चर्चरी, प्रबन्ध, चरित, आख्यानक, कथा आदि।

2. उत्सव काव्य। ये किसी विशेष अवसर या त्यौहार आदि से सम्बन्धित होते हैं। इनको फागु, धमाळ, बारहमासा, विवाहलो, धवल, मंगल आदि नाम दिए गए हैं।

3. नीति, उपदेश-काव्य। ऐसे काव्यों को संवाद, कक्का, मातृका, बावनी, बत्तीसी, छत्तीसी, ( आदि संख्यापरक नाम ), कुलक, हीयाळी, कहा जाता है।

4. स्तुति काव्य। ऐसे काव्य विभिन्न तीर्थंकरों, तीर्थस्थलों, साधुपुरुषों आदि की स्तुति-रूप में हैं और स्तुति, स्तवन, सज्झाय, वीनती, नमस्कार, चौवीसी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

ध्यातव्य है कि जैन कवियों ने अनेक काव्य रूपों को अपनाया है और प्रचलित काव्य-रूपों के आधार पर अनेक नवीन रूपों का सृजन भी किया है। जैन काव्य-परम्परा आरम्भिक काल से आधुनिक काल के प्रारम्भ तक सतत प्रवहमान रही है। आधुनिक काल में भी यह परम्परा किसी न किसी रूप में चालू रही है। राजस्थानी भाषा के आरम्भिक रूप का पता जैन कृतियों से ही चलता है। राजस्थानी भाषा के उद्भव और विकास के अध्ययन के लिए जैन कृतियाँ अपरिहार्य हैं। जैन विद्वानों ने अनेक जैनेतर कृतियों का संरक्षण कर भारतीय विद्या और साहित्य की महती सेवा की है। एक और क्षेत्र में भी जैन कवियों ने अभूतपूर्व कार्य किया है। उन्होंने अपने-अपने समयों में प्रचलित और प्रसिद्ध लोकगीतों की 'देशियों' ( धुनों ) पर भी अपने-अपने काव्यों का निर्माण किया है। ऐसा करते समय उन्होंने जिस लोक गीत की तर्ज पर अपनी रचना 'ढाळ'—बद्ध की उसकी पहली पंक्ति अथवा एक पंक्ति का उल्लेख आरम्भ में किया है। उनमें से अधिकांश कवियों की रचनाओं का काल प्रायः निश्चित है। इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि लोकगीत-विशेष, किस समय में प्रसिद्ध था। इससे ऐतिहासिक दृष्टि से लोकगीतों के अध्ययन में महती सहायता मिलती है तथा सांस्कृतिक दृष्टि से तत्कालीन लोकमानस को जानने का प्रामाणिक साधन भी उपलब्ध होता है।

श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने 'जैन गुर्जर कविओं', भाग 3 के दूसरे खण्ड में लोकगीतों की लगभग 2500 'देशियों' का उल्लेख किया है जिनके आधार पर विभिन्न जैन कवियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की। ऐतिहासिक दृष्टि से राजस्थानी लोकगीतों की महत्ता और प्रसिद्धि का किंचित पता इससे लगाया जा सकता है। यह जैन काव्य के कारण ही सम्भव हो सका है। इसके अतिरिक्त अनेक लोक-प्रचलित और परम्परागत कथाओं को भी जैन कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा सुरक्षित रखा है।

### कतिपय कवि और काव्य

संवत् 1125 के लगभग रचित वज्रसेन सूरि का 'भरतेश्वर वाहुवलि घोर' मरु-गुर्जर की आरम्भिक रचना है। 48 छन्दों के इस छोटे से काव्य में भरत और वाहुवलि के युद्ध का वर्णन है। इसी विषय पर संवत् 1241 में रचित शालिभद्र सूरि का 'भरतेश्वर वाहुवलि रास' अत्यन्त प्रसिद्ध और काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रचना है। 203 पद्यों में रचित यह वीर और शान्त रस परक काव्य है। शालिभद्र सूरि की अन्य रचना है—बुद्धिरास ( 63 छन्द ), जिसमें ज्ञानोपदेश और बुद्धि-वर्द्धक कथनों का संकलन है। 13वीं शताब्दी के प्रमुख कवियों में शालिभद्र सूरि की गणना है।

संवत् 1257 के आसपास आसिगु ने ( 1 ) जीवदया रास ( 53 पद्य ), चन्दनवाला रास ( 35 पद्य ), तथा कृपण-गृहिणी संवाद ( 9 पद्य ) नामक काव्यों की रचना की। पहली रचना में जीवदया-धर्मपालन पर जोर दिया गया है। दूसरी में जैन परम्परा में प्रसिद्ध सतियों में एक—चन्दनवाला द्वारा भगवान को भोजन-दान देने का उल्लेख है। तीसरी में पति और पत्नी के बीच धन के सदुपयोग विषयक संवाद है।

धर्म कवि ने संवत् 1266 में 'जम्बू स्वामी चरित्र' ( 41 पद्य ) की रचना की। इसमें सुप्रसिद्ध जम्बू स्वामी की कथा को पद्यवद्ध किया गया है।

पाल्हण के दो काव्य-नेमि वारहमासा ( 16 पद्य ) तथा आबू रास ( 51 पद्य ) प्राप्त हैं। जम्बू स्वामी की भांति नेमिनाथ और राजिमती का प्रसंग भी जैन कवियों का प्रिय विषय रहा है। नेमिनाथ अपनी शादी से पूर्व अपनी वारात के भोजन के लिए एकत्र किए पशुओं का करुण क्रन्दन सुनकर संसार त्याग कर तपस्या हेतु गिरनार चले गए थे। राजिमती यह सुनकर स्तब्ध रह गई। अन्त में उसने भी नेमिनाथ का अनुसरण करते हुए दीक्षा

ग्रहण की। आबू रास में मंत्री विमल और वस्तुपाल तेजपाल द्वारा आबू पर्वत पर बनाए गए जैन मन्दिरों का वर्णन है।

लक्ष्मी तिलक गणि कृत 'शान्तिनाथ देव रास' ( लगभग संवत् 1313 ) में खेड़ और जालौर में क्रमशः 1201 और 1256 में जिनपति सूरि और जिनेश्वर सूरि द्वारा 16वें तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमाएँ स्थापित करने के वर्णन हैं। रचना का महत्त्व ऐतिहासिक भी है।

सोममूर्ति की जैन धर्म विषयक चार छोटी-छोटी रचनाएँ मिलती हैं—जिनेश्वर सूरि विवाह वर्णना रास, ज्ञिनप्रबोध सूरि चर्चरी, गुरावली रेलुआ तथा जिनप्रबोध सूरि बोलिका। इनका रचनाकाल संवत् 1331 के आसपास है।

उदयधर्म रचित 'उवएसमाल कहाणय छप्पय' ( 81 छप्पय ) उपदेशात्मक रचना है। इसमें छप्पय छन्द का प्रयोग है।

रल्ह अथवा राजसिंह ने संवत् 1354 में 553 पद्यों में जिणदत्त चरित की रचना की। इसमें सेठ जिनदत्त की कथा का वर्णन है। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव भी लक्षित होता है। भाषा की दृष्टि से इसी कोटि की एक अन्य रचना 'प्रद्युम्न चरित' ( 701 पद्य ) है। सधारु ने इसकी रचना संवत् 1411 में की थी।

अम्बदेव सूरि रचित 'समरा रास' ( 105 पद्य ) में शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा का वर्णन है।

जिनपद्म सूरि कृत 'थूलिभद्द फाग' की रचना संवत् 1390 में हुई थी। इसमें स्थूलिभद्र की जीवनकथा का मार्मिक वर्णन किया गया है। फागु काव्य-परम्परा की यह पहली कृति है।

पूर्णिमा गच्छ के शालिभद्र सूरि रचित 'पंच पंडव चरित रास' में जैन परम्परा में प्रचलित पांडवों की कथा का सरस वर्णन है। 795 पंक्तियों की यह रचना 15 'ठवणियों' में विभक्त है। यह संवत् 1410 में रची गई थी।

उपाध्याय विनयप्रभ का 'गौतम स्वामी रास' ( रचना काल-संवत् 1412 ) जैन श्रद्धालुओं में बहुत प्रसिद्ध है।

शालिसूरि कृत 'विराटपर्व' महाभारत के विराट पर्व की कहानी पर

आधारित है। उल्लेख्य है कि इसमें संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग है। इसकी रचना संवत् 1478 से पूर्व की है।

राजशेखर सूरि अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान और कवि थे। मरु-गुर्जर में रचित उनकी दो कृतियां—नेमिनाथ फागु तथा त्रिभुवन दीपक प्रबन्ध अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। दूसरी एक रूपक रचना है। विभिन्न मानसिक वृत्तियों को मानव चरित्र प्रदान किया गया है। मरु-गुर्जर की यह प्रथम रूपक रचना है।

आरम्भिक काल के अन्य कवियों में हीरानन्द सूरि, महोपाध्याय जयसागर, देपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ध्यातव्य है कि 13वीं सदी तक की रचनाओं पर अपभ्रंश का प्रभाव विशेष दिखाई देता है। उसके पश्चात् शनैः शनैः यह प्रभाव कम होता गया है।

मध्यकाल में सैकड़ों जैन कवियों ने सहस्रों की संख्या में अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। उन सबका तो नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है। इस काल के अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण कवियों में से कतिपय का उल्लेख ही यहाँ सम्भव हैं।

ब्रह्म जिनदास ( 1445-1525 ) एक महान् विद्वान् और कवि थे। 1 दर्जन संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने 50 से ऊपर हिन्दी तथा राजस्थानी मिश्रित गुजराती में काव्य लिखे जिनमें से अधिकांश 'रास' हैं। उनकी रामायण यां 'राम सीता रास' सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है। यह रविषेणाचार्य के पद्मपुराण पर आधारित है।

छीहल ( रचनाकाल लगभग संवत् 1575 ) ने पाँच छोटी-छोटी रचनाएँ बनाई—पंच सहेली गीत, पंथी गीत, उदरगीत, पंचेन्द्रिय वेलि तथा नाम बावनी। काव्य की दृष्टि से पहली और पांचवीं रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

कुशललाभ ( अनुमानतः संवत् 1580-1650 ) ने चार प्रकार की रचनाएँ लिखीं—

1. प्रचलित लोक कथाओं पर, जैसे—माधवानल चौपाई, ढोला मारवणी चौपाई।
2. जैन परम्परा में प्रचलित कथानकों आदि पर, जैसे—अगड़दत्त रास पूज्य वाहण गीत आदि।

8. देवी या शक्ति पर, जैसे—दुर्गासात्तसी, भवानी छन्द आदि तथा

4. छन्द शास्त्रीय ग्रंथ, यथा—'पिंगल सिरोमणी' ( इसके रचयिता-संकलनकर्ता और काल के विषय में मतभेद है )

इनमें से पहली और तीसरी प्रकार की रचनाओं के कारण कुशललाभ का राजस्थानी काव्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समयसुन्दर ( संवत् 1610-1703 )—अपने समय के बहुत प्रसिद्ध विद्वान् और कवि थे। उन्होंने प्रभूत परिमाण में काव्य रचना की—विशेषतः गीतों की। इस कारण उनके विषय में यह उक्ति प्रसिद्ध हो गई—"समय-सुन्दर रा गीतड़ा, कुम्भै राणै रा भींतड़ा।"

उनकी प्रवन्धात्मक रचनाओं में सिंहलसुत प्रियमेलक रास, चम्पक सेठ चउपइ, वस्तुपाल तेजपाल रास आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी फुटकर कृतियों की संख्या वहुत वड़ी है। ऐसी रचनाओं में उनकी संवत् 1687 में गुजरात में पड़े दुष्काल से सम्वन्धित रचना वहुत ही प्रसिद्ध है।

हेमरतन सूरि ( संवत् 1616-1673 ) की सर्वाधिक प्रसिद्ध और काव्यात्मक दृष्टि से उत्तम रचना 'गोरा वादल चरित्र' ( अपर नाम-गोरा वादल पद्मिणी चौपाई ) है। यह 619 पद्यों की रचना है जिसमें किसी अन्य कविकृत कतिपय छप्पय भी हैं। पद्मिनी-अलाउद्दीन विषयक घटना को लेकर लिखे जाने वाले काव्यों में अनेक दृष्टियों से इसका शीर्षस्थ स्थान है। हेमरतन की अन्य रचनाएँ—महिपाल चौपाई, अमर कुमार चौपाई, सीता चौपाई तथा लीलावती हैं। ये सभी प्रवन्धात्मक रचनाएँ हैं।

लब्धोदय ( संवत् 1680-1750 ) ने सात प्रवन्धात्मक कृतियाँ लिखीं जिनमें ये चार प्राप्त हैं—पद्मिनी चरित चौपाई, मलय सुन्दरी चौपाई, रत्नचूड़ मणिचूड़ चौपाई तथा गुणावली चौपाई। पहली और दूसरी में शील धर्म का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। तीसरी में दान धर्म और चौथी में ज्ञान-पंचमी का माहात्म्य वर्णित है। काव्य और परम्परा की दृष्टि से प्रथम रचना उल्लेखनीय है। इसमें राघव और चेतन-दो व्यक्ति माने गए हैं। हेमरतन की कृति में यह एक ही व्यक्ति है।

जिनहर्ष ( जसराज, संवत् 1685-1779 ) ने लगभग 74 वड़ी रचनाएँ लिखीं ( चंदन मलयगिरि चौपाई, कुसुमश्री महासती चौपाई, विद्याविलास

रास, मृगापुत्र चौपाई, मत्स्योदर रास आदि )। इनके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न विषयों—नीति धर्म, प्रेम आदि पर लगभग 350 पद और छन्द लिखे। लौकिक प्रेम से सम्बन्धित इनके छन्द तो अत्यन्त ही लोकप्रिय हुए।

**धर्मवर्द्धन** ( धर्मसी, संवत् 1700-1783 ) अपने समय के प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली कवि थे। जैन कथानकों के अतिरिक्त उन्होंने नीति, स्तुति, ऋतु, वीरों आदि पर अनेक रचनाएँ लिखीं। छत्रपति शिवाजी पर लिखा गया इनका डिंगल गीत, चारण शैली के ऐसे गीतों का स्मरण कराता है।

**दौलत विजय** ( लगभग संवत् 1700-1800 ) का 'खुम्भाण रास' हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों की बहु-चर्चित रचना है। जैसा कि अनेक विद्वानों ने माना है, यह हिन्दी के आदिकाल की रचना नहीं है। इसकी रचना संवत् 1767 के लगभग हुई थी। इसकी एकमात्र उपलब्ध प्रति में रचना खंडित है जिसमें कुल 3576 छन्द प्राप्त हैं। इसके विशाल आकार का इसीसे अनुमान लगाया जा सकता है। इसमें बाप्पा-रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक का उल्लेख पाया जाता है। खुम्भाण और पद्मिनी से सम्बन्धित अंश एक प्रकार से भिन्न रचनाएँ लगती हैं, जो महाराणा-परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण सम्मिलित की गई प्रतीत होती है। इसमें तथ्य और कल्पना का मिश्रण है, साथ ही वीर और शृंगार रसों का भी अद्भुत रूप से सम्मिश्रण किया गया है। यह काव्य ढोला-मारू, सिवदास और खिड़िया जगा की विच-निकाओं, गणपति कायस्थ कृत माधवानल-कामकंदला प्रबन्ध तथा पृथ्वीराज रासो से प्रभावित है।

**विनयचन्द्र** (रचनाकाल संवत 1725—1769) ने अनेक मुक्तक रच-नाओं का सृजन किया। इनमें उनकी भक्ति-भावना के स्वाभाविक उद्‌गार मुखरित हैं। उनकी 'उत्तमकुमार चरित चौपाई' एक प्रबन्धात्मक कृति है जिसमें उत्तमकुमार के प्रेम और शौर्य का तथा अन्त में उनके जैन दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख है।

**जयमल्लजी** ( संवत 1765—1853) स्थानकवासी संप्रदाय के आचार्य थे। उनकी कविताओं की संख्या काफी बड़ी है जो तीन मुख्य भागों में विभाजित की जा सकती हैं— 1. नीति-उपदेशात्मक, २. स्तुति, कथा 3. आख्यान। तीसरे प्रकार की रचनाओं में अर्जुनमाली, उदयीराजा, कार्तिक सेठ, तेतली पुत्र आदि से संबंधित प्रबन्ध काव्य सम्मिलित हैं।

भीखणजी (संवत 1783—1860) तेरापंथ ( श्वेताम्बर ) संप्रदाय के प्रवर्तक थे। उन्होंने तेरापंथ का प्रवर्तन संवत् 1817 में किया था। उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों के वचनों की अनेक नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की जो एक प्रकार से जैन जगत में क्रान्तिकारी कही जा सकती हैं। सत्य के प्रति अटल आस्था और निर्भीकता उनकी कविताओं का गुण है। तात्विक विषयों को उन्होंने सरल भाषा और प्रसादपूर्ण शैली में जनसाधारण के लिए सुबोध बनाया है। दो खण्डों में प्रकाशित 'भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर' में उनके काव्य प्रकाशित हैं।

२. लौकिक काव्य (प्रेम काव्य)

अनेक जैन प्रबन्ध ग्रन्थों (यथा-प्रबन्ध-चिन्तामणि, प्रभावक चरित, प्रबन्ध कोश आदि) तथा हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरण में, प्रेम, शृंगार, विरह वीरता आदि से संबंधित अनेक पद्य मिलते हैं। इनकी भाषा अपभ्रंश और अपभ्रंश मिश्रित मरुगुर्जर है। इनमें उद्धृत अनेक दोहे तो परिवर्तित रूप में आज भी लोकप्रचलित हैं।

नरपति नाल्ह रचित बीसलदेव रास ( रचनाकाल विक्रम की 14वीं शताब्दी ) बहुचर्चित रचना है। इसमें राजा भोज की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के विवाह, राजा के राजमती से रूठकर उड़ीसा जाने, राजमती का विरह और दोनों के पुनः मिलन की कथा वर्णित है। यह महत्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। इस कोटि की 15वीं शताब्दी की अन्य रचनाओं में विजयचन्द्र कृत हंसराज-बच्छराज-चौपाई, असाइत कृत हंसावली, भीम कृत सदयवत्स वीर प्रबन्ध, माणिक्यसुन्दर सूरि कृत मलय-सुन्दरी कथा, हीरानन्द सूरि रचित विद्याविलास पवाड़उ, हीर भाट कृत मानवती विनयवती प्रबन्ध आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यकाल में अनेक प्रेमकाव्य रचे गए। कर्त्ता की दृष्टि से ऐसे काव्य दो प्रकार के हैं—1. वे जिनके रचयिता ज्ञात हैं, 2. वे जिनके रचयिता अज्ञात हैं। पहली श्रेणी के काव्यों के पाठों में भूल से अधिक अन्तर लक्षित नहीं होता जबकि दूसरी श्रेणी के अनेक काव्यों की कई पाठ-परम्पराएँ मिलती हैं और उनमें पाठान्तर भी बहुत पाए जाते हैं।

पहली कोटि के प्रसिद्ध काव्यों में 'माधवानल-कामकन्दला' से सम्बन्धित काव्य, बुद्धि रासौ आदि की गणना है। ढोला-मारू, जेठवा-ऊजळी आदि से सम्बन्धित दोहे-सोरठे-दूसरी कोटि की रचनाएँ हैं।

गणपति कायस्थ कृत 'माधवानल कामकन्दला प्रवन्ध' (रचनाकाल-संवत् 1582) 2565 दोहों का प्रवन्ध काव्य है जिसमें माधव और कामकन्दला की प्रेमकथा का वर्णन है। काव्य में समस्या-प्रहेलिकाएँ तथा नायक और नायिका दोनों के रूप वर्णन हैं। 'बारहमासा' के माध्यम से विरह-वर्णन किया गया है। इसकी कथा विक्रमादित्य से सम्बन्धित कथाओं में से एक है।

इसी कथानक पर जैन कवि कुशललाभ ने संवत् 1616 में 'माधवानल-कामकन्दला चउपई तथा सत्रहवीं शताब्दी में दामोदर ने 'माधवानल कथा' नामक काव्य लिखा। दूसरी रचना में ढोला-मारू, 'बींझा-सोरठ' आदि काव्यों के दोहे भी किंचित् हेरफेर के साथ अपना लिए गए हैं।

'ढोला मारू' एक प्रसिद्ध प्रेमकाव्य है। इसकी रचना संवत् 1500 के आसपास हुई थी। यह भावप्रधान कृति है। मारवणी का विरह-वर्णन तो अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कथा के अनेक रूपान्तर मिलते हैं जिनमें दोहा रूपान्तर सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कुशललाभ ने ऐसे दोहों का चयन कर उनको सम्मिलित करते हुए अपनी 'ढोला मारवणी चउपई' नामक कृति लिखी।

जल्ह कृत बुद्धि रासौ (रचनाकाल अनुमानतः 16वीं शताब्दी) 137 छन्दों की रचना है। इसमें चम्पावती के राजकुमार और एक वेश्या-पुत्री (उर्फ जलधितरंगिणी) की प्रेमकथा तथा अन्त में दोनों का एक दूसरे को पति-पत्नी रूप में अपनाने का वर्णन है। भाषा में किंचित् अपभ्रंश का मिश्रण भी है।

दामो कृत 'लखमसेन पदमावती चउपई' (रचनाकाल संवत् 1516) में अनेक आश्चर्यजनक कार्यों के साथ लखमसेन की वीरता और प्रेम का वर्णन है। काव्य की दृष्टि से यह साधारण रचना है। इसका विशेष महत्व काव्य-रूढ़ियों और भाषा की दृष्टि से है।

जेठवा-उजली से सम्बन्धित लगभग 100 सोरठे मिलते हैं। ये अधिकांश में जेठवा के प्रति ऊजली के मर्मस्पर्शी उद्‌गार हैं। जेठवा एक राजपूत राज-कुमार था और ऊजली एक चारण की लड़की। संयोग से दोनों में प्रेम हुआ किन्तु जाति-गत बन्धनों के कारण जेठवा ने ऊजली से विवाह करने से इन्कार कर दिया। मूल दोहों की रचना 15वीं शताब्दी में होनी चाहिए।

शेणी-बीजानंद की प्रेमकथा भी करुणापूरित है। शेणी के पिता द्वारा

रखी गई शर्त को निर्धारित समय में पूरा न करने के कारण वीजानन्द शेणी को नहीं पा सका। कथा से सम्बन्धित लगभग 80 सोरठे प्राप्त होते हैं जिनका रचनाकाल लगभग संवत् 1550 है। इनमें शेणी के विरहोद्‌गार मुखरित हैं।

नागजी-नागमती की कथा से सम्बन्धित 50 दोहे मिलते हैं ( रचनाकाल-लगभग वही )। कथा में रूपान्तर भी पाए जाते हैं। नागमती का विवाह अन्यत्र हो जाने के कारण उसके प्रेमी नागजी ने देह त्याग दी। इसका पता लगने पर नागमती ने भी उसकी चिता में कूदकर प्राण दे दिए।

बींझा-सोरठ की प्रेम कथा राजस्थान और गुजरात में प्रसिद्ध है। इससे सम्बन्धित लगभग 75 दोहे मिलते हैं जिनकी रचना 16वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में हुई होगी। दोहों में दोनों के प्रेम, सोरठ के विरह और रूप का चित्रण है।

जलाल-बूबना की प्रेम कथा विषयक लगभग 110 दोहे प्राप्य हैं जिनकी रचना सत्रहवीं शताब्दी में होने का अनुमान है। दोहों में दोनो के प्रेम, मिलन, विरह आदि के प्रभावोत्पादक चित्रण मिलते हैं।

### 3. चारण काव्य

चारण काव्य केवल चारण कुलोत्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही नहीं अपितु अन्य जातियों के व्यक्तियों द्वारा भी प्रभूत परिमाण में रचा गया है। यह काव्य दो मुख्य धाराओं में विभाजित किया जा सकता है :

1. ऐतिहासिक-वीररसात्मक, तथा 2. पौराणिक-धार्मिक।

**ऐतिहासिक वीररसात्मक काव्य :** इस धारा के कवि स्वयं युद्धों में सम्मिलित रहते थे और मौका पड़ने पर लड़ते भी थे। उनको युद्ध और युद्ध से सम्बन्धित सभी उपकरणों, स्थितियों आदि का सम्यक् ज्ञान रहता था। यही कारण है कि उनकी कविता में इतिहास और वीर रस बोलते प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से इस काव्य की विभिन्न विद्वानों ने उचित ही प्रशंसा की है।

11वीं से 14वीं शताब्दी तक इस शैली की कविता फुटकर छन्दों के रूप

में मिलती है। कतिपय चारण कवियों के नाम भी मिलते हैं। श्रीधर व्यास इस शैली के प्रथम प्रसिद्ध और प्रौढ़ कवि हैं। रणमल्ल छन्द तथा सप्तसती रा छन्द उनकी कृतियां हैं। पहली में ईडर के राठौड़ राव रणमल के जफरखान से हुए युद्ध का वर्णन प्रमुख है। इसकी रचना संवत 1457 में हुई थी। दूसरी में मार्कण्डेय पुराण के आधार पर दुर्गा का ओजमय वर्णन है।

पन्द्रहवीं शताब्दी की एक अन्य रचना वीरमायण है। यह बादर ढाढी की कृति है। यह मुख्यतः नीसाणी और दोहा छन्द में है। इसमें जोहियों और राठौड़ों से सम्बन्धित घटनाओं—विशेषतः जोहियों और वीरमदेव राठौड़ से सम्बन्धित घटनाओं और युद्धों का विशद, प्रवाहपूर्ण वर्णन है। आरंभिक राठौड़ इतिहास के लिए भी इसका महत्त्व है।

सिवदास गाडण रचित 'अचलदास खीची री वचनिका' (रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष) काव्य-सौष्ठव, भाषा और इतिहास की दृष्टि से आरंभिक काल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चारण कृति है। इसमें गागरोनगढ़ के खीची अचलदास पर हुए मांडू के सुल्तान होशंग गोरी के आक्रमण और राजपूत वीरांगनाओं के जौहर के वर्णन प्रमुख हैं। यह युद्ध संवत 1480 में हुआ था। कवि ने आंखों देखा वर्णन किया है।

मध्ययुग के आरंभिक महत्त्वपूर्ण कवियों में गाडण पसायत, खिड़िया चानण और सिंढावच चौभुजा की गणना है। पसायत की पांच छोटी-छोटी रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो राठौड़ राव रणमल्ल, उनके पुत्र राव जोधा और राणा मोकल से सम्बन्धित हैं। सभी उच्च कोटि की वीर रसात्मक रचनाएँ हैं। खिड़िया चानण की 'दूहा राव रिणमल रा', 'दूहा राव रिणधीर रा' आदि 6 रचनाएँ मिलती हैं जो मुक्तक पद्यों के संकलन रूप में हैं। खिड़िया जग्गा ने अपनी 'वचनिका' में सम्भवतः खिड़िया चानण के राव रणमल्ल पर रचित दोहों का उल्लेख किया है। इससे कवि की प्रसिद्धि का पता चलता है। सिंढायच चौभुजा का भी राव रणमल्ल पर डिंगल गीत मिलता है।

पद्मनाभ ने संवत् 1512 में महाकाव्य की शैली पर लगभग 1000 छन्दों में कान्हड़दे-प्रबन्ध की रचना की। इसमें जालौर के शासक कान्हड़दे पर हुए अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण तथा अन्य सम्बन्धित घटनाओं के

प्रभावशाली चित्रण हैं। काव्य-सौष्ठव, इतिहास, संस्कृति और तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें राजस्थानी के पुराने रूपों—'अइ' और 'अउ' का प्रयोग है।

इसकी शैली पर भांडउ ( भांडो ) व्यास ने संवत् 1539 में 3:27 छन्दों में हम्मीरायण की रचना की। इसमें रणथम्भौर के सुप्रसिद्ध चौहान वीर हम्मीर और उसके अलाउद्दीन के साथ हुए युद्धों का वर्णन है।

संवत् 1591 से 1598 के बीच, बीकानेर के राव जैतसी से संबंधित तीन प्रबन्ध काव्य रचे गए—वीठू सूजा कृत राव जैतसी रो पाघड़ी छंद—( 401 छंद ), अज्ञात कृत राव जैतसी छंद ( 485 छंद ) तथा जैतसी रासौ। पहले दोनों काव्य घटनाओं और वर्णनों की दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं। तीनों ही वीर रस की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। पहले दोनों काव्यों ने कतिपय परवर्ती कवियों को भी काफी प्रभावित किया है।

बारहट आसा ( अनुमानतः संवत् 1550-1650 ) की छोटी-बड़ी सात रचनाओं में 'उमादे भटियाणी रा कवित्त तथा 'बाघजी रा दूहा' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उमादे का विवाह जोधपुर के राव मालदेव के साथ हुआ था। विवाह की पहली रात्रि को अपनी दासी भारमली के साथ रावजी को क्रीड़ा-रत देखकर वह रूठ गई और जन्म भर रूठी रही। इतिहास में वह 'रूठी राणी' के नाम से प्रसिद्ध है। भारमली बाद में कोटड़ा के स्वामी बाघजी के पास रहने लगी थी। उल्लिखित दोनों रचनाएँ इन्हीं दोनों-उमादे और बाघजी पर हैं। 'बाघजी रा दूहा' बाघजी की मृत्यु पर कहे गए करुणापूरित मर्सिये हैं।

वीठू मेहा की गोगाजी रा रसावला, पाबूजी रा छंद, करणीजी रा छंद, चांदाजी री वेल आदि रचनाएँ उल्लेख्य हैं। इनमें संबंधित व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ हैं।

बारहट ईसरदास यद्यपि भक्त कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं तथापि उनकी रचना-हालां झालां रा कुंडलिया वीर रस की अत्यन्त लोकप्रिय और श्रेष्ठ रचना है। इसमें हाला जसाजी और झाला रायसिंह के मध्य हुए युद्ध की पीठिका पर वीररसात्मक भावों का ओजस्वी चित्रण किया गया है।

इस कोटि की एक अन्य रचना—दूदा आसिया अमरावत कृत 'कुंडलिया'

हैं जो सवाणा के कल्ला रायमलोत पर रचित हैं। दोनों ही कृतियाँ अन्योक्ति शैली पर रचित वीर भावों का हृदयग्राही अंकन करती हैं।

साँदू माला ( संवत् 1590-1680 ) 'झूलणा' छंद का विशेष कवि माना जाता है। वीकानेर के राजा रायसिंहजी, महाराणा प्रताप, अचल तिलोकदास तथा वादशाह अकवर पर रचित उनकी 'झूलणा' रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इनके अनेक फुटकर गीत, छप्पय आदि भी मिलते हैं। माला संश्लिष्ट वर्णन, भाषा-प्रवाह और इतिहास से संबंधित उपमाओं के लिए प्रसिद्ध है।

दुरसा आढ़ा ( संवत् 1595-1708 ) की छोटी-वड़ी 9 कृतियाँ, लगभग 125 डिंगल गीत तथा अनेक फुटकर पद्य प्राप्त हैं। मध्ययुग के श्रेष्ठ कवियों में दुरसा की गणना है। प्रवंध रचनाओं में इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना 'झूलणा राव अमरसिंह गजसिंघोत रा' है।

'राठोड़ रतनसिंह री वेलि' ( संभवतः दूदा विसराल द्वारा रचित ) वीर रस की उत्तम रचना है जिसमें युद्ध और विवाह के रूपक का निर्वाह किया गया है।

केसोदास गाडण सत्रहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध के महान् कवि हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना गजगुणरूपक वंध जोधपुर के महाराजा गजसिंह के विभिन्न युद्धों से संवंधित प्रवंध काव्य है। इसमें युद्ध-वर्णन का ही वाहुल्य होने से इसे युद्ध-काव्य कह सकते हैं। वीररस का सजीव वर्णन इसकी विशेषता है। उल्लेख्य है कि इसमें अनेक स्थलों पर सेना की उपमा जोगियों की जमात से दी गई है। इससे नाथपंथ के प्रभाव का भी पता चलता है।

महेसदास राव ( रचनाकाल-सत्रहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ) की छोटी-वड़ी सात रचनाएँ प्राप्त हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध विन्हैरासो है। इसमें शाहजहाँ के तीन विद्रोही शाहजादों—औरंगजेव, मुराद और शाहशुजा के शाही सेना से हुए तीन युद्धों के वर्णन हैं जिनमें गौड़ वीरों के वर्णन मुख्य हैं।

गिरधर आसिया ( संवत् 1690-1775 ) कृत सगतरासो में महाराणा प्रताप के अनुज शक्तिसिंह के कार्यों और वीरता का वर्णन है। यह 943 छन्दों का प्रवन्ध काव्य है। शक्तिसिंह पर इतनी वड़ी और कोई रचना उपलब्ध नहीं है।

किसोरदास राव ने अनुमानतः संवत् 1715-16 के आसपास राजप्रकाश की रचना की जिसमें उदयपुर के महाराणा राजसिंह की मालपुरा पर चढ़ाई और विजय के वर्णन मुख्य हैं।

खिड़िया जग्गा रचित वचनिका राठौड़ रतनसिंह जी महेसदासौत री ( रचनाकाल—अनुमानतः संवत् 1715 ) की मध्यकाल की प्रसिद्ध रचनाओं में गणना है। इसमें मुख्यतः औरंजेब और मुराद की सम्मिलित सेना से शाही सेना की ओर से राठौड़ रतनसिंह का वीरतापूर्वक लड़ना और काम आना वर्णित है। यह एक कलात्मक कृति है। कवि ने अपने पूर्व रचित अनेक प्रसिद्ध रचनाओं का भी अध्ययन किया प्रतीत होता है।

जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के संवत् 1787 में सर बुलन्दखां से हुए अहमदाबाद-युद्ध के प्रसंग को लेकर तीन प्रसिद्ध कवियों ने अपनी-अपनी रचनाएँ लिखी थीं। रतनू वीरभाण कृत राजरूपक, कविया करणीदान कृत सूरज-प्रकास और खिड़िया वखता कृत अहमदावाद रा झगड़ा रा कवित ( कुल संख्या 165 ) ऐसी रचनाएँ हैं। राजरूपक और सूरजप्रकास वीर रस की अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रौढ़ कृतियाँ हैं। सूरज प्रकास में तो राठौड़-वंशावली देते समय संक्षेप में 'रामायण' ही लिख डाली गई है। इसमें चारण काव्य अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है, बाद के काव्यों में वह ह्रासोन्मुख है। इन दोनों कवियों की अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हैं।

हम्मीरदान रतनू ( सत्रहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध ) के विभिन्न विषयों पर लिखे 175 ग्रंथ बताए जाते हैं। उनकी 'देसलजी री वचनिका' वीररसात्मक ऐतिहासिक कृति है।

आढ़ा पहाड़खान ( रचनाकाल—संवत् 1780-1811 ) के गोगादे रूपक में मुख्यतः राठौड़ गोगा का जोइयों से युद्ध कर वीरगति को प्राप्त न होने का वर्णन है। इसकी विषय वस्तु बादर ढाढी कृत वीरमायण से मिलती-जुलती है।

अठारहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में रचित गाडण गोपीनाथ कृत ग्रंथराज काफी प्रसिद्ध रहा है। इसमें बीकानेर के महाराजा गजसिंह के जीवन-कार्यों का वर्णन है।

खिड़िया हुकमीचन्द ( रचनाकाल—संवत् 1800-1860 ) उन्नीसवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध डिंगल गीतकार हैं। भाषा-शैली और कला सौष्ठव की

दृष्टि से उनके गीत सर्वाधिक प्रसिद्ध रहे हैं। चारणों में उनके गीतो को कंठस्थ करने की परिपाटी भी रही है।

कालक्रम की पुष्टि से आसिया वांकीदास मध्ययुग के अन्तिम बड़े कवि हैं। विषय-वस्तु और वैचारिक दृष्टि से उनकी कविताएँ आधुनिक काल की पृष्ठभूमि के रूप में हैं। अभी तक उनकी छोटी-बड़ी 30 कृतियाँ प्रकाश में आई हैं तथा और भी आने की संभावना है। उन्होंने सामाजिक विसंगतियों और कुसंस्कारों पर करारी चोटें की हैं तथा बढ़ते हुए अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध देशवासियों को मार्मिक चेतावनी दी है। उनका 'चेतावणी का गीत' सर्वप्रसिद्ध है।

आधुनिक काल (संवत् 1900 से) के इस शैली के प्रसिद्ध आरम्भिक कवियों में सूर्यमल्ल मिश्रण, शंकरदान सामौर आदि की गणना है।

## 3 चारण काव्य : पौराणिक धार्मिक

हम श्रीधर व्यास रचित दुर्गासप्तसती का उल्लेख कर आए हैं। चारणों में देवी के 84 असाधारण अवतार माने जाते हैं। आवड़जी, महमाय, चालेराय, करणीजी की गणना अवतारों में है। अतः चारण काव्य देवी, शक्ति और अवतार रूपों पर प्रभूतशः लिखा गया है। धार्मिक दृष्टि से राजस्थानी कवियों ने भगवान के सभी अवतार रूपों को प्रकारान्तर से एक ही समझा है और सबके प्रति समान भाव से श्रद्धा व्यक्त की है। राम और कृष्ण चरित पर सर्वाधिक रचनाएँ लिखी गई हैं। विशेषता यह है कि इनमें इनके वीर और भक्त उद्धारक रूप को उजागर किया गया है। अधिकांश के कथन मार्कण्डेय पुराण, महाभारत और भागवत से लिए गए हैं। इनके अतिरिक्त निर्गुण भक्ति की रचनाएँ भी लिखी गई हैं।

जयसिंह के 'हरिरासु' में भगवद्-महिमा वर्णित है। कवि का समय 16वीं शताब्दी माना गया है किन्तु इस पर और विचार की आवश्यकता है।

अल्खुजी कविया (अनुमानतः संवत् 1525-1625) की गणना प्रसिद्ध चारण भक्त कवियों में की जाती है। राम, कृष्ण तथा लौकिक पूज्य पुरुषों—गोरख, जाम्भोजी आदि पर उन्होंने भक्ति भाव और प्रशस्ति परक फुटकर छन्दों (विशेषतः कवित्तों) की रचना की है।

बारहट आसा ( अनुमानतः संवत् 1550-1650 ) के 'गुण निरंजण प्राण' में निर्गुण ब्रह्म का महिमा-गान है ।

चूंडोजी दधवाड़िया (रचनाकाल-संवत् 1620-1625) की पाँच रचनाओं में से दो—निमंधावंध और गुणवाचक वेलि उपलब्ध हैं । ये नीति और भक्ति की छोटी-छोटी कृतियाँ हैं ।

सांखला करमसी रुणेचा रचित क्रिसनजी री वेलि अपूर्ण रूप में प्राप्त है । इसमें रुक्मिणी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन है । इसकी रचना सोलहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में कभी हुई थी । पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'वेलि' पर भी इसका प्रभाव लक्षित होता है ।

कुशललाभ कृत दुर्गासात्तसी का उल्लेख हो चुका है । बारहट ईसरदास ( 1595-1675 ) की ( फुटकर छन्दों के अतिरिक्त ) भक्ति विषयक, 10 बड़ी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें हरिरस और देवियाण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं । हरिरस में अनेक प्रकार से हरिमहिमा और देवियाण में शक्तिरूपा देवी का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है ।

राठौड़ पृथ्वीराज कृत वेलि क्रिसन रुक्मिणी री ( रचना-काल संवत् 1637 ) अत्यन्त प्रौढ़ और प्रांजल काव्य कृति है । इसमें राजस्थानी काव्य की तीनों परंपराओं-प्रेम-शृंगार, वीर और भक्ति का सुन्दर समन्वय किया गया है । मूलतः यह कृष्ण-रुक्मिणी विषयक प्रेम काव्य है जो अन्त में भक्ति में पर्यवसित होता है । यह एक वर्णन प्रधान कलात्मक काव्य कृति है । उपमाओं की पूर्णता, कवि की विशेषता है । शृंगार और प्रेम का अत्यन्त सारगर्भित और हृदयग्राही वर्णन किया गया है । वर्णन और शब्द-चयन में कवि जागरूक है । भाषा साहित्यिक राजस्थानी है । बीच-बीच में संस्कृत शब्दों का प्रयोग है जो श्रीधर व्यास कृत रणमल्ल छंद और दुर्गा सप्तसती की परम्परा में है । मध्ययुग की यह अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिस पर कवि के जीवनकाल में ही टीकाएँ लिखी जानी आरम्भ हो गई थीं । इसके अतिरिक्त कवि के राम, कृष्ण, गंगा आदि से संबंधित अनेक फुटकर छन्द मिलते हैं ।

सोलहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध की एक अन्य प्रसिद्ध रचना किसनउ ( किसनो ) रचित महादेव पार्वती री वेलि है । यह 382 छंदों की रचना है जिसमें शिव

के सती और पार्वती के साथ हुए दो विवाहों का वर्णन है। कवि का मुख्य उद्देश्य शिव-महिमा प्रकट करना प्रतीत होता है।

गाडण केसौदास का उल्लेख पहले कर आए हैं। भक्ति विषयक उनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं नीसाणी विवेक वार, छंद महादेवजी रो, तथा छंद श्री गोरखनाथ। 'नीसाणी' में शांकर वेदान्त तथा भक्ति और योग विषयक प्रवाहपूर्ण वर्णन है। यह प्रसिद्धि-प्राप्त रचना है।

माधौदास दधवाड़िया ( संवत् 1610-1678 ) का लगभग 1034 छन्दों में महाकाव्य की शैली में राम चरित पर रचित 'रामरासौ' मध्ययुग की उल्लेख्य रचना है। इसमें राम के वीर और उद्धारक रूप का अंकन प्रमुख है। भाषा भावानुकूल और वर्णन प्रभावशाली हैं। सभी मुख्य पात्रों को एक आदर्श वीर के गुणानुसार चित्रित किया गया है। रचना वाल्मीकि रामायण से प्रभावित है, अन्य रामायणों काप्रभाव भी दिखाई देता है। कवि की दूसरी रचना-नीसाणी गजमोख में गज-ग्राह की कथा वर्णित है।

सांया झूला की सात-आठ रचनाओं में रूक्मिणी हरण, नाग-दमण और अंगद विष्टि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्युत्पन्नमति युक्त प्रसंगानुकूल नपे-तुले और विषय से सीधे संबंधित संवाद कवि की विशेषता है। वीर रस का चित्रण तो सभी में है। नाग-दमण में वात्सल्य-भाव का अनूठा अंकन हुआ है। तीसरी रचना अंगद के दौत्य कर्म से संबंधित है।

सुरजनदास पूनिया ( संवत् 1640-1748 ) की इस कोटि की तीन रचनाओं-कथा हरिगुण, कथा गजमोख और रामरासौ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंतिम रचना है। यह 176 छन्दों ( डिंगल गीत के दोहलों और छप्पय ) की वीररसात्मक कृति है। कथा की दृष्टि से इसमें कई नवीनताएँ हैं, जैसे—वाराही का उल्लेख।

कल्याणदास राव कृत गुणगोविन्द ( रचना काल—संवत् 1700 ) में दसावतारों का, विशेषतः राम और कृष्ण की लीलाओं का चित्रण है। विट्ठलदास रचित रुक्मिणी हरण, महेसदास राव रचित रघुनाथ चरित नव रस वेलि, मुहता रूघनाथ रचित रूघरासो, आईदान गाडण रचित श्री भवानीशंकर रो गुण शिव पुराण—इस कोटि की अन्य रचनाएँ हैं। अंतिम तीन कृतियाँ अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हैं।

केसरीसिंह जैतावत ( अनुमानतः संवत् 1707-1807 ) रचित 'पंखी पुराण' ( गुण पंखी प्रमोद ) अपने ढंग की अनूठी रचना है। इसमें पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों आदि के माध्यम से भक्ति, नीति आदि पर मनोहर छन्दों की रचनाएँ की गई हैं।

जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह की अनेक कृतियों में भक्तिभाव युक्त गज उद्धार ग्रंथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

जती जयचंद रचित माताजी री वचनिका में दुर्गासप्तशती के आधार पर देवी-महिमा वर्णित है।

बारहट मुरारीदास कृत गुण विजय व्याह में कृष्ण-रुक्मिणी विषयक कथा का वर्णन किया गया है। अनेक स्थलों पर वर्णन और कथा की नवीनता दृष्टिगोचर होती है।

बारहट कृपाराम ( संवत् 1800-1890 ) कृत 'राजिया रा दूहा' अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इस दृष्टि से वे सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि हैं। व्यावहारिक और लोकनीति का जैसा वर्णन 'राजिया दूहा' में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कवि की तीन-चार अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं।

ओपा आढा ( संवत् 1809-1900 ) मध्ययुग के अन्तिम प्रसिद्ध भक्त कवि हैं। उनके भक्ति और नीति परक डिंगल गीत और फुटकर छन्द अपनी मार्मिकता और अनूठी कथन शैली के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

### 4 आख्यान काव्य

मध्ययुग में आख्यान काव्यों की परम्परा राजस्थानी और गुजराती साहित्यों में मिलती है। आख्यानों की विषय वस्तु प्रसिद्ध पौराणिक तथा धार्मिक प्रसंगों पर आधारित होती है। जनसाधारण उसको सहज भाव से समझता है। आख्यान विभिन्न राग-रागिनियों में गेय होता है तथा इसकी भाषा बोलचाल की होती है। इसका आकार-प्रकार छोटा और शैली नाटकीय गुणों से युक्त होती है। मध्ययुग में हिन्दू समाज की सर्वाधिक सांस्कृतिक सेवा आख्यान काव्यों ने की है। चरित्र-निर्माण और उदात्त गुण-ग्रहण की प्रेरणा देना इनका मूल उद्देश्य था।

डेल्हजी ( संवत् 1490-1550 ) कृत 'कथा अहमनी' अपेक्षाकृत बड़ा—

717 छन्दों का आख्यान है। इसमें अभिमन्यु की कथा का वर्णन है। साथ में तत्कालीन लोकप्रचलित मान्यताओं और समस्याओं का भी सुष्ठु समावेश किया गया है। यह वीर और करुण रस से ओतप्रोत हृदयग्राही रचना है।

पदम भगत रचित "रुक्मिणी मंगल" तो अत्यन्त ही लोकप्रिय रचना है। इसका रचनाकाल अनुमानतः संवत् 1550 के आसपास है।

मेहोजी कृत रामायण (रचनाकाल—संवत् 1575) रामचरित पर आधारित अपने ढंग का सर्वोत्कृष्ट आख्यान काव्य है। इसमें वाराही तथा भोज, दो नए पात्रों का सन्निवेश है। सभी पात्र मानवीय कमजोरियों और संवेदनाओं से युक्त हैं और कवि ने इनका प्रभावशाली चित्रण किया है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के परशुराम देवाचार्य ने भी कई आख्यानों की रचना की है।

कैसौजी (संवत् 1630-1736) के चार आख्यानों—कथा भींवं दुसासणी, कथा सुरगारोहणी, कथा वहसोवनी और प्रहलाद-चिरत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अन्तिम आख्यान है। इसमें प्रह्लाद की पौराणिक कथा के साथ कुछ अन्य घटनाओं का भी मिश्रण किया गया है। 696 छन्दों की यह रचना वात्सल्य और करुण भावों से ओतप्रोत है।

सुरजनजी कृत कथा उषा-पुराण, प्रह्लाद पुराण, रुस्तमजी कृत किसन-ब्यावलो, सरवणजी कृत सीता-पुराण आदि अन्य उल्लेख्य आख्यान काव्य हैं।

## 5. सन्त काव्य

राजस्थानी का सन्त काव्य, मुख्यतः दो प्रकार के कवियों द्वारा निर्मित है : 1. सम्प्रदाय विशेष के प्रवर्तक और अनुयायियों द्वारा, और 2. सम्प्रदायेतर कवियों द्वारा। यहाँ जैन साधु-सन्तों द्वारा रचित काव्य का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

**विभिन्न संत-सम्प्रदाय और उनका काव्य** :—राजस्थान शूरों, सतियों और संतों का क्रीड़ास्थल रहा है। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि यहाँ पर अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक सन्त संप्रदायों का प्रवर्तन हुआ और मात्रा में प्रभूत परिमाण में संत-काव्य सृजित हुआ तथापि इसका सम्यक् पता

साहित्य संसार को अभी तक भी नहीं है। आगे यहाँ के मुख्य 16 संप्रदायों का संक्षिप्त उल्लेख ही किया जा रहा है। उनके विभिन्न कवियों का तो नामोल्लेख भी सम्भव नहीं है।

1. नाथ सम्प्रदाय—नाथ संप्रदाय का संगठन गोरखनाथ ( लगभग 11वीं शताब्दी ) ने किया था। परम्परा से नौ नाथ और नाथों के बारह पंथ प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में नाथों का व्यापक प्रभाव रहा है। आरम्भिक नाथो—गोरख, चर्पट आदि की देश-भाषा की रचनाओं की प्रमाणिकता संदिग्ध है। इस परम्परा में मध्ययुग में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाथ—पृथ्वीनाथ ( सत्रहवीं शताब्दी ) थे। उनकी छोटी-बड़ी 29 कृतियों का पता चला है। उल्लेख्य है कि उनमें भक्ति का प्रभूत प्रभाव पाया जाता है जो नवीन बात है।

जोधपुर के महाराजा मानसिंह ( संवत् 1839-1900 ) नाथों के परम भक्त थे। नाथ भक्ति विषयक उनकी अनेकशः रचनाएँ प्राप्त हैं।

जोधपुर के बनानाथ ( उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध ) की दो रचनाओं—अनुभव प्रकाश और परवाना में प्रथम विशेष महत्त्वपूर्ण है। बनानाथ की रचनाओं में योग के साथ भक्ति और नाम-महिमा भी वर्णित है। उनकी शिष्य-परम्परा में—नवलनाथ और उत्तमनाथ भी अच्छे कवि हुए हैं।

2. रसिक सम्प्रदाय—( रामभक्ति में ) और रामावत वैरागी : अग्रदासजी जो सीकर के पास रैवासा में रहने लगे थे, ने रसिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। गलता रामावत वैरागियो का मुख्य स्थान है। इनकी रचनाएँ अधिकांश में ब्रज, अवधी आदि भाषाओं में है तथापि कतिपय ने राजस्थानी और पिंगल में भी रचनाएं की हैं। रसिक संप्रदाय के ऐसे कवियों में सिया सखी और कृपाराम के नाम उल्लेखनीय हैं।

3. विष्णोई संप्रदाय के प्रवर्तक जाम्भोजी ( संवत् 1508-1593 ) थे। यह सगुणोन्मुख निर्गुण सम्प्रदाय है। भगवान के अवतार तो मान्य हैं पर मूर्तिपूजा का सर्वथा निषेध है। जाम्भोजी और सम्प्रदाय के कवियों की भाषा राजस्थानी है। सांस्कृतिक, वैचारिक, साहित्यिक, पारस्परिक और भाषिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय की देन बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऊदोजी नैण, वील्होजी, केसोजी, सुरजनजी, परमानन्दजी, हरचन्दजी आदि कवियों ने अनेक रचनाएं प्रस्तुत की हैं।

4. जसनाथी संप्रदाय के प्रवर्तक जसनाथजी ( संवत् 1539-1563 ) थे। इस संप्रदाय की विचारधारा विष्णोई संप्रदाय की विचारधारा से मिलती-जुलती है। इसके कवियों ने भी राजस्थानी में रचनाएं प्रस्तुत की हैं। करमदास, देवोजी, लालनाथ, चोखनाथ आदि प्रसिद्ध कवि हुए हैं।

5. निरंजनी संप्रदाय के प्रवर्तक हरिदासजी थे। उनका काल अनुमानतः 17वीं शताब्दी है। हरिदासजी की वाणी में राजस्थानी के साथ व्रज के प्रयोग भी हैं। मूल में यह निर्गुण संप्रदाय था पर बाद में इस पर सगुण भक्ति का प्रभाव खूब पड़ा। इसके कवियों ने भी अनेकशः रचनाओं का प्रणयन किया तुरसीदास, जगजीवनदास, सेवादास, भगवानदास, मनोहरदास आदि प्रसिद्ध कवि है।

6. परशुराम देवाचार्य—निंवार्क संप्रदाय के आचार्य थे। इनकी गद्दी सलेमाबाद में है। इनका समय अनुमानतः संवत् 1577 से 1657 है। निम्बार्क संप्रदाय चार प्रमुख सगुण संप्रदायों में एक है। परशुरामजी की वाणी में निर्गुण भक्ति की रचनाएं भी काफी मिलती हैं। वाणी की भाषा सरल राजस्थानी है, कहीं व्रज का मिश्रण भी है। उनके भक्तिभाव भरे पद और कतिपय फुटकर छन्द तो बहुत प्रसिद्ध हैं। इस संप्रदाय के अन्य भक्त कवि तत्ववेत्ता हुए हैं।

7. दादू संप्रदाय के प्रवर्तक दादूजी का समय संवत् 1600-1660 है। इनकी वाणी निर्गुण भक्ति प्रधान है यद्यपि एकाध स्थल पर सगुण भक्त की भाँति दादू मुक्ति के स्थान पर 'भक्ति' की कामना भी करते हैं। आत्मज्ञान और जीवन्मुक्ति प्राप्त करना दादू का मुख्य संदेश है। दादू संप्रदाय में बखनाजी, रज्जवजी, सुन्दरदासजी ( छोटे ), संतदास बारहहजारी, भीखजनजी, वाजिद आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनकी भाषा राजस्थाती तथा राजस्थानी मिश्रित व्रज और खड़ी बोली है।

8. लालदासी संप्रदाय या लालपंथ के प्रवर्तक लालदासजी ( संवत् 1597-1705 ) का जन्म अलवर के पास धोलीदूप में एक मेव मुसलमान परिवार में हुआ था। उनके उपदेश कमाकर खाना, राम-स्मरण और कीर्तन से संबन्धित हैं। राम निर्गुण हैं। विद्वानों ने उनकी एक रचना-चितावनी का उल्लेख किया है पर वह दादू पंथी लालदास की रचना है, इनकी नहीं। हस्तलिखित

रूप में इनके नाम से जो रचनाएं प्राप्त हैं, उनमें लगभग 125 साखिये (दोहे) और 60 पद इनके हैं। यह उल्लेख्य है कि इन्होंने योग-साधना का बहिष्कार किया है। संप्रदाय के प्रमुख कवियों में हरिदास, डूंगरसी साध, प्राणी साध, भीखन साध आदि की गणना है।

9. चरणदासी या शुक संप्रदाय के प्रवर्तक चरणदासजी ( सवत् 1760-1839 ) थे। उनकी तथा उनकी दो शिष्याओं—दयाबाई और सहजोबाई की रचनाएं भक्ति-परम्परा में महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी भाषा राजस्थानी, व्रज और खड़ी बोली मिश्रित है। जोगजीतजी, रामरूपजी आदि अनेक कवि इस संप्रदाय में हुए हैं पर उनकी भाषा खड़ी बोली या व्रज प्रधान है।

10. गूदड़ पंथ : संतदास ( संवत् 1699-1806 ) गूदड़ वेश धारण करते थे। इस कारण इनके साधु अनुयायी गूदड़ पंथी कहे जाने लगे। इनका मुख्य स्थान दांतड़ा ( भीलवाड़ा ) है। संतदासजी की वाणी निर्गुण उपासना परक है। उन्होंने वाह्याडंबरों की भी भर्त्सना की है। भाषा सरल राजस्थानी है।

राजस्थान में कालान्तर में चार संप्रदाय एक ही नाम 'रामस्नेही' से प्रवर्तित किए गए। इनकी परम्पराएँ पृथक्-पृथक् हैं।

11. रामस्नेही सम्प्रदाय, शाहपुरा : इसके प्रवर्तक रामचरणजी महाराज ( संवत् 1776-1855 ) थे उनकी वाणी अत्यन्त विशद—36 हजार श्लोक परिमाण है। एक प्रकार से यह निर्गुण भक्ति परक विषयों का विश्वकोष है। इस संप्रदाय के अनेक कवियों में से कतिपय के नाम है—रामजनजी, भगवानदासजी, नवलरामजी, रामप्रतापजी, दुल्हेराम, जगन्नाथजी आदि।

12. रामस्नेही संप्रदाय, रैण। इसके प्रवर्तक दरियावजी ( संवत् 1733-1815 ) थे। यह भी निर्गुण संप्रदाय है। दरियावजी की 412 साखियाँ और लगभग 30 पद मिलते हैं। इस परम्परा में पूर्णदास, किसनदास, नानकदास, मनसाराम, हरखाराम आदि अनेक कवि हुए हैं।

13. रामस्नेही संप्रदाय, सींथल के प्रवर्तक हरिरामदासजी ( स्वर्गवास—संवत् 1835 ) थे। इनकी वाणी प्रसादगुण सम्पन्न और प्रवाहपूर्ण है। इनका

शब्दचयन भी उल्लेख्य है। हरिदेवदासजी, नारायणदासजी, पीरारामजी आदि इस संप्रदाय के कुछ प्रसिद्ध कवि हैं।

14. रामस्नेही संप्रदाय, खेड़ापा के प्रवर्तक रामदासजी ( संवत् 1783-1855 ) सींथल शाखा के प्रवर्तक हरिरामदासजी के शिष्य थे और उनकी आज्ञा से इन्होंने यह नवीन शाखा स्थापित की। इनकी वाणी भी निर्गुण भक्ति परक है। दयालुदास, परशुराम, पीथोदास, पूरणदास आदि इस परम्परा के कवि हैं।

15. अलखिया संप्रदाय का प्रवर्तन लालगिरि ( उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध ) ने किया था। बीकानेर इनका मुख्य स्थान था। इनके 29 'सबद' मिलते हैं, जिनमें योग साधना, निर्गुण भक्ति आदि का उल्लेख है। इस परम्परा में ज्ञानगिरिजी हुए जिनकी 'अलखस्तुति प्रकाश' रचना का उल्लेख मिलता है।

16. आई पंथ का प्रवर्तन जीजीदेवी उर्फ आईजी ने संवत् 1557 में किया था। बिलाड़ा इसका मुख्य स्थान है। सीरवी जाति के लोगों में आईजी की विशेष मान्यता है। भवानीदास व्यास, ताराचन्द व्यास आदि इस परंपरा के प्रमुख कवि हैं। यह एक शाक्त पंथ है जिसमें वैष्णवी विचारधारा का भी पर्याप्त मिश्रण है।

सम्प्रदायेतर कवि :—ऐसे कवियों में कतिपय का नामोल्लेख किया जा सकता है। पीपाजी ( स्वर्गवास-अनुमानतः संवत् 1510 ) के लगभग 25 पद और कुछ साखियाँ मिलती हैं। उनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित व्रज है, यत्र-तत्र खड़ी बोली का मिश्रण भी मिलता है। पदों में निर्गुण भक्ति परक भावनाएं और नाम-स्मरण का उल्लेख हैं।

काजी महमूद ( अनुमानतः संवत् 1450-1550 ) के लगभग 35 पद मिलते हैं जिनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। भाव और भाषा का माधुर्य तथा सटीक शब्दचयन पदों की विशेषता है।

मीराबाई ( संवत् 1555-1604 ) के नाम से साहित्य-संसार सुपरिचित है। उनके पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनका जीवन-वृत्त और पदों की प्रामाणिकता अभी भी समस्या है। उनके नाम से लगभग दो हजार पद मिलते हैं, पर

वे सब उनकी रचना नहीं है। इनमें लगभग 300 पद उनके होने चाहिए। तल्लीनता, प्रेम की गम्भीरता और प्रभु से मिलन की उत्कट लालसा उनके पदों की विशेषता है। मीरा का काव्य समर्पण का काव्य है। पदों में सगुण, निर्गुण और योगपरक भावनाओं के चित्रण भी हैं। परम्परा से वह कृष्ण की आराधिका और कवयित्री मानी जाती रही हैं।

दीन-दरवेश (अनुमानतः संवत् 1810-1890) की मध्ययुग के श्रेष्ठ संत कवियों में गणना है। उनकी दीनप्रकास, ग्रन्थ अदलानंद, परमार्थ-प्रसंग आदि दस रचनाएँ प्राप्त हैं। भाषा राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। उनकी 'कुंडलियाँ' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

सन्त ज्ञानीजी, गद्द, गबरीबाई, संत मावजी, नामदेव श्रीकृष्णदास आदि अनेक संत-भक्तों की रचनाएँ लोक में प्रचलित हैं।

# आधुनिक काल

आधुनिक काल का आरम्भ संवत् 1900 ( अथवा लगभग सन् 1850 ) के आसपास माना जाता है। इस काल में काव्य की भाँति गद्य शैली और उसकी विषयवस्तु में भी अन्तर आया। राजस्थान के जन-जीवन पर तत्कालीन परिवर्तित राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ने लगा। सन् 1819 ( संवत् 1876 ) तक एक प्रकार से सारा राजस्थान अंग्रेजों के संरक्षण में आ चुका था। उनके संरक्षण में राजस्थान के रजवाड़ों ने मराठों के आक्रमण और उनकी मांगों तथा अन्य वाह्य आक्रान्ताओं से मुक्ति की सांस ली। इसके मूल में अनेक कारण रहे थे। सन् 1857 ( संवत् 1914 ) के 'गदर' की विफलता के वाद सन् 1858 में सम्पूर्ण देश ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया। अंग्रेजों के सम्पर्क, पाश्चात्य प्रभाव, उन्नीसवीं शताब्दी के विभिन्न सुधार-आन्दोलन, नई शिक्षा-प्रणाली रेल, तार आदि वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रचार-प्रसार, व्यापक सम्पर्क आदि के कारण लोगों के विचार, चेतना, मान और मूल्यों में बहुत अन्तर आया।

तत्कालीन काव्य में यह वैचारिक परिवर्तन मुखरित है। आधुनिक काल के काव्य का भी मुख्य स्वर राष्ट्रीयता की भावना और मानव-मुक्ति का है। बांकीदास की रचनाएं इसकी पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं। डूँगजी जवाहरजी तथा उनके बाद गदर में भाग लेने वाले ठाकुरों और वीरों विषयक रचनाएं इस वैचारिक परिवर्तन का उद्घोष करती हैं।

---

सूर्यमल्ल मिश्रण ( संवत् 1872-1925 ) प्रथम उत्थान : संवत 1900 से 2004-07 तक। ( लगभग सन् 1850 से 1947-50 ) आधुनिक काल में चारणों में अन्तिम वड़े विद्वान और कवि माने जाते हैं। वंश भास्कर, वीर सतसई, राम रंजाट, बलवद् विलास, धातु-रूपावली तथा अनेक डिंगल गीत उनकी रचनाएं हैं जिनमें पहली दो अपूर्ण हैं। छन्दोमयूख और सती रासौ भी उनकी कृतियां बताई जाती हैं, पर ये उपलब्ध नहीं है। वंश भास्कर महाभारत के समान एक विश्वकोषीय ऐतिहासिक काव्य है जिसमें बूंदी के

महाराव रामसिंह, उनके पूर्वजों, अनेक राजपूत वंशों, घटनाओं और विषयों का वर्णन है। इसकी भाषा अधिकांश में पिंगल है, कहीं-कहीं राजस्थानी का प्रयोग भी है। यह सूर्यमल्ल के विशद ज्ञान, काव्य-प्रतिभा और भाषा पर अद्भुत अधिकार का परिचायक है। उनकी वीर रसात्मक 'वीर सतसई' सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। इसमें वीर भावों का अनूठा चित्रण किया गया है। कवि आचार्य हेमचन्द्र, बारहठ ईसरदास, बांकीदास प्रभृति कवियों की कृतियों से भी प्रभावित मालूम पड़ता है। इसके कतिपय दोहों में तत्कालीन गदर का वातावरण भी ध्वनित है।

**संकरदान सामौर** ( संवत् 1881-1935 ) अनेक दृष्टियों से इस काल के प्रथम महान् कवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविताओं में अंग्रेजी राज्य, उसमें फैले भ्रष्टाचार, अन्याय और शोषण, देशी-नरेशों की निष्क्रियता, अंग्रेजों की स्वार्थ और छल भरी नीति आदि का बड़ा प्रभावशाली, ओजपूर्ण चित्रण किया गया है। उनमें इनके विरुद्ध संघर्ष का खुला आह्वान है। वे उपेक्षितों और पीड़ितों के पक्षधर हैं। वैचारिक दृष्टि से भी संकरदान अपने समकालीन भारतीय भाषाओं के कवियों से कहीं आगे हैं। उनकी रचनाओं में सगती सुजस, भागीरथी महिमा, वखत रो वायरो, देस दर्पण, साकेत सकत, विभिन्न वीरों और विषयों पर लिखे गए डिंगल गीतों और फुटकर छन्दों आदि की गणना है। ये सभी रचनाएं मुखश्रुति से प्राप्त हुई हैं।

इस काल में परम्परागत काव्य-रचना भी खूब हुई। ऐसी अनेक कृतियों में परिस्थितिजन्य नवीन विचारो और भावों के उल्लेख भी मिलते हैं। यहाँ ऐसे कुछ कृतिकारों का नामोल्लेख ही किया जा सकता है।

रामनाथ कविया ( संवत् 1858-1936 ) की प्रसिद्ध रचनाओं में पाबूजी रा सोरठा और कसणा-बावनी की गणना है। दोनों ही हृदयग्राही लघु कृतियाँ हैं। पाबूजी के जीवन-चरित पर रचित मोड़जी आसिया कृत पाबू प्रकाश ( संवत् 1989 ) और अगरसिंह जोधा कृत पाबू प्रकाश ( संवत् 2014 ) उल्लेख्य हैं।

दादू पंथी स्वरूपदास ( संवत् 1858-1920 ) की रस रत्नाकर, पाखण्ड-खण्डन, वर्णनार्थ मंजरी, दृष्टान्त दीपिका, वृत्तिबोध, सूक्ष्मोपदेश, पाण्डव-यशेन्दुचन्द्रिका ( अपरनाम उक्ति चन्द्रिका ) आदि 12 रचनाएँ प्रसिद्ध हैं।

इनमें अन्तिम रचना की विशेष ख्याति है। इसमें पिंगल और राजस्थानी में महाभारत की कथा का संक्षेप में वर्णन है।

राव बख्तावर ( संवत् 1870-1951 ) उदयपुर के महाराणा स्वरूपसिंह के कृपापात्र थे। रसोत्पत्ति, स्वरूपयश प्रकाश, शम्भूयश प्रकाश अन्योक्ति प्रकाश, केहरयश प्रकाश आदि उनकी कृतियाँ हैं। इनमें अन्तिम कृति की विशेष प्रसिद्धि है जिसमें केसरीसिंह और एक वेश्या—कमलप्रसन्न की प्रेम कहानी वर्णित है।

समानबाई ( संवत् 1882-1942 ) प्रसिद्ध कवि रामनाथ कविया की पुत्री थी और माहुन्द ( किशनगढ़—अलवर ) के रामदयालजी को ब्याही गई थी। भक्त कवयित्री के रूप में इनकी प्रसिद्धि है। ईशमहिमा, राधिका शरीरोपमा श्रीकृष्णोपमा, पतिपत्रोपमा और राम, कृष्ण विषयक पद इनकी मुख्य कृतियां हैं।

चिमनजी ( संवत् 1890-1944 ) बहुत अच्छे विद्वान और कवि थे। इन्होंने ऐतिहासिक-वीररसात्मक, भक्ति परक और छन्दशास्त्रीय विषयों पर छोटी-बड़ी 21 रचनाओं का सृजन किया। सोढायण इनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य है जिसमें सोढा राजपूतों के वीर कृत्यों का वर्णन है।

गुमानसिंह ( संवत् 1879-1971 ) परम योगी और भक्त कवि थे। मोक्ष भवन, गीतासार, योगांक शतक, सुबोधिनी, रत्नसार, तत्वबोध, रामरत्नमाला, लययोगबत्तीसी, समयसार बावनी, अद्वैत बावनी, पदावली' आदि उनकी कृतियाँ हैं। इनमें 'गुमान पदावली' विशेष प्रचलित और प्रसिद्ध है।

बारहठ शिवबक्स पाल्हावत ( संवत् 1901-1956 ) अलवर के महाराजा मंगलसिंह के दरबारी कवि थे। राजस्थानी में इनकी 'अलवर की षट्ऋतु झमाल' प्रसिद्ध रचना है।

ऊमरदान लालस ( संवत् 1908-1960 ) पहले राम स्नेही सम्प्रदाय में दीक्षित थे। किन्तु संवत् 1940 में स्वामी दयानन्दजी के सम्पर्क में आकर उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। 'ऊमर काव्य' में इनकी रचनाएँ संकलित हैं। इनकी कविता का मुख्य स्वर समाज-सुधार और तत्कालीन सामाजिक दशा का चित्रण है।

महाराज चतुरसिंह ( संवत् 1936-1986 ) की गणना मेवाड़ के प्रसिद्ध योगी, भक्त और कवि के रूप में की जाती है। उनकी छोटी-बड़ी 18 कृतियाँ हैं—भगवद्‌गीता की गीतांजलि टीका, परमार्थ विचार, योगसूत्र की टीका, मानव मित्र रामचरित्र, शेषचरित्र, चतुर प्रकाश, अनुभव प्रकाश, बाळकां री पोथी, नवोरोग, अलख पच्चीसी, चतुर चिन्तामणि आदि।

मोड़सिंह महियारिया का जन्म संवत् 1918 में मारवाड़ में हुआ था। इन्होंने 453 दोहे रचकर सूर्यमल्ल मिश्रण की वीरसतसई की ( जिसमें 288 दोहे हैं ) 'सतसई' के रूप में पूर्ति की। इनके दोहों का विषय भी वही है जो सूर्यमल्ल के दोहों का है। किन्तु भाव और विचार की दृष्टि से इनके दोहे सूर्यमल्ल के दोहों की समता नहीं करते।

हिंगलाजदान कविया ( संवत् 1918-2005 ) की चारण शैली के एक सशक्त और बड़े कवि के रूप में गणना है। इनकी रचनाओं में मृगया मृगेन्द्र, प्रत्य पयोधर, सालगिरह शतक, मेहाई महिमा, दुर्गा-बहत्तरी, आखेट अपजस, वाणिया रासो, आदि प्रसिद्ध हैं। भाषा पर कवि का जबरदस्त अधिकार है।

केसरीसिंह बारहठ ( संवत् 1928-1998 ) एक क्रान्तिकारी और देशभक्त कवि थे। 'चेतावणी रा चूंगट्या' ( 13 सोरठे ) उनकी बहुचर्चित रचना है।

उदयराज ऊजल ( संवत् 1942-2024 ) प्रसिद्ध विद्वान् और उच्च कोटि के कवि थे। धूड़सार, मारवाड़ रा वीर दूध प्रकाश, मातृभाषा दोहावली, भानिया रा दूहा, स्वराज. सतक, उज्वल सतक, तेज सतक, सर्वोदय सतक, सती सतक, श्रम सतक, भाषा सतक आदि उनकी कृतियाँ हैं।

नाथूसिंह महियारिया ( संवत् 1948-2030 ) की वीर सतसई, गांधी शतक, हाड़ी शतक, चूंडा शतक, झाला मान शतक, वीर शतक, कश्मीर शतक, आदि रचनाएँ हैं जिनमें प्रथम विशेष प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है।

आचार्य तुलसी ( जन्म संवत् 1971 ) तेरापंथ ( श्वेताम्बर ) के नवें आचार्य । माणक, महिमा, डालिम चरित्र, कालूशो विलास और मगन चरित्र लिखकर इन्होंने जैन चरित काव्य-परम्परा का पुनः उत्थान किया है। इनकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने इस परम्परा में महनीय योगदान दिया और दे रहे हैं। कतिपय नाम ये हैं: मुरारिदान, बूँदी, बारहठ बालाबख्श पाल्हावत गुज्रकी आदि।

## द्वितीय उत्थान (संवत् 2004-07) (सन् 1947-50) से वर्तमान समय तक

देश की आजादी के लिए किसी न किसी प्रकार संघर्ष करने वाले लोगों कतिपय ने अपनी-अपनी कविताओं द्वारा सामाजिक-राजनैतिक जागरण के गीत भी गाए। माणिक्यलाल वर्मा, हीरालाल शास्त्री, जयनारायण व्यास, सुमनेश जोशी गणेशीलाल व्यास 'उस्ताद', 'भैरवलाल 'काला बादल' प्रभृति की कविताएँ इसी कोटि की हैं। ये मुख्यतः प्रचारात्मक हैं।

इनमें 'उस्ताद' ने तो कालान्तर में अनेक प्रकार की रचनाएँ की। कथ्य, भाषा-शिल्प और प्रभाव की दृष्टि से उनकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी हैं।

द्वितीय उत्थान के आसपास रचित कृतियों में चन्द्रसिंह कृत काव्य बादली, मुकुल कृत 'सैनाणी और कन्हैयालाल सेठिया कृत 'पातल और पीथल' कविताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बादली चन्द्रसिंह का एक हृदयग्राही प्रकृति काव्य है। इनका 'लू' कई दृष्टियों से इससे भी श्रेष्ठ प्रकृति काव्य है। सैनाणी एक वीर रसात्मक देशभक्तिपरक रचना है। यह राजस्थानी साहित्य सम्मेलन, दिनाजपुर में सन् 1944 में पहली बार गाई-सुनाई गई थी। इसने बहुत ही ख्याति अर्जित की। कवि-सम्मेलनों में राजस्थानी को प्रमुख स्थान दिलाने का श्रेय भी इसीको है। इसने और सेठिया के 'पातल अर पीथल' ने देशभक्ति की भावना को सुदृढ़ करने में महनीय योगदान दिया है।

वर्तमान में प्रबन्ध और मुक्त रूप में—अनेक प्रकार की काव्य-सर्जना हो रही है। प्रमुख प्रबन्ध काव्यों में निम्नलिखित की गणना है: श्रीमन्तकुमार कृत 'रामदूत', विमलेश कृत 'रामकथा,' नानूराम संस्कर्ता कृत 'गोपीचन्द, लंकाणधणी, सांकळ-संधाण, गिरधारीसिंह पड़िहार कृत 'मानखो', सत्यप्रकाश जोशी कृत राधा, बोल भारमली, बारहठ करणीदान कृत शंकुतला, राणीसती, महर्षि कृत मरु मयंक, नारायणसिंह भाटी कृत मीरा, बनवारीलाल मिश्र 'सुमन' कृत देल्यां रो दिवलो, सत्यनारायण 'अमन' कृत सीसदान, सूर्यशंकर पारीक कृत धरती, सिद्ध जसनाथ जी रो सिरलोको, रघुराणसिंह हाड़ा कृत हरदौल महावीरप्रसाद जोशी कृत बिन्द्रावन, प्रेमजी 'प्रेम' कृत सूरज, कल्याण गौतम कृत पिव बांध रै भैख आदि।

डॉ० मनोहर शर्मा पिछले अनेक वर्षों से काव्य-सर्जना करते आ रहे हैं। कूंजा, गोपी गीत, मारवणी, पंछी, बापू, अमरफल, अन्तरजामी, धोरांरो संगीत आदि उनकी प्रसिद्ध कृतियां हैं।

कन्हैयालाल सेठिया राजस्थानी के प्रसिद्ध और चर्चित कवि हैं। हिन्दी में भी इनके काव्य-संकलन प्रकाशित हुए हैं। उनकी राजस्थानी कृतियों में रमणियै रा सोरठा, मींझर, कूं कूं, लीलटांस, धरकूचां धर मजलां की गणना है। गम्भीर विचारों और भावों को चुने हुए शब्दों में लाघव से प्रकट करना इनका वैशिष्ट्य है।

मेघराज मुकुल सन् 1944 से काव्य-सर्जना करते आ रहे हैं। इनके कई हिन्दी काव्य-ग्रंथ भी प्रकाशित हैं। सैनाणी री जागी जोत और किरत्यां में इनकी राजस्थानी कविताएँ संकलित हैं। इनकी कविता-यात्रा के कई पड़ाव हैं। मुकुलजी ने जितना लिखा है, उतना प्रकाश में नहीं आया है। हम आशा करते हैं कि उनके अन्य काव्य-संकलन भी शीघ्र प्रकाशित होंगे और तब उनकी विशेष चर्चा-परिचर्चा होगी।

नारायणसिंह भाटी के काव्यों में दुर्गादास, परमवीर, सांझ, ओळू, मकळप, मीरा, आदि की गणना है। प्रकृति, प्रेम-शृंगार और उदात्त भावों का चित्रण इनके काव्य की विशेषता है।

नानूराम संस्कर्ता भी काफी समय से साहित्य-सेवा करते आ रहे हैं। कलायण, दस देव, छप्पय-सतसई उनके अन्य काव्य हैं। इनमें प्रथम दो और छप्पय-सतसई में संकलित 'प्रकरती सईकड़ो' प्रकृति-काव्य हैं। सुमेरसिंह शेखावत कृत मेघमाळ उदयवीर शर्मा कृत 'डांफी' और कल्याणसिंह राजावत कृत परभाती इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

इस काल में महाराणा प्रताप पर भी काव्य-सृजन हुआ है। रामसिंह सोलंकी कृत जननायक प्रताप, ठाकुर रणवीरसिंह शक्तावत कृत प्रताप पताका कुंवर उमेदसिंह कृत महाराणा री ओल्यूं, दिनेश मिश्र कृत भारत सूर्य आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं।

कथात्मक तथा गीतात्मक अन्य कविताओं में निम्नलिखित का उल्लेख किया जा सकता है—गिरधारीसिंह पड़िहारकृत जागती जोतां, बनवारीलाल

मिश्र कृत प्रेम प्रदीप, सूरज सोलंकी कृत जूनी वातां, रामपाली भाटी कृत चार गाथा, रघुराजसिंह हाड़ा कृत अणवांच्या आखर, फूल केसूला फूल, रामेश्वर-दयाल श्रीमाली कृत हाडी राणी, बावनो हिमालो, दयाशंकर आर्य कृत मरु मींझर, सीताराम महर्षि कृत प्रीत पीड़री पाल, मछली मन म्हारो आदि।

हास्य-व्यंग्य कवियों में विश्वनाथ 'विमलेश' और सत्यनारायण 'अमन' के नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। विमलेश कृत छेड़खानी, कुचरणी और टसकोळी में संकलित कविताएँ 'नवरस में रस हास्य' में एक साथ प्रकाशित की गई हैं। जनता को दरबार में उनकी आपातकाल विषयक रचनाएँ भी संग्रहीत हैं जो विशेष ध्यान आकृष्ट करती हैं। अमन कृत 'चुठिया' में उत्कृष्ट व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं। नागराज शर्मा ( बिरखा बीनणी, थारो के ल्यांहां ), प्रेम जी 'प्रेम' ( चमचो ), अन्नाराम सुदामा ( पिरोळ में कुत्ती ब्याई ), बुद्धिप्रकाश पारीक ( चूंटक्या, चवड़का, तिरसा, इन्दर सूं इन्टरव्यू आदि ) प्रभृति अन्य ऐसे कवि हैं।

उल्लिखित तथा इनके अतिरिक्त अनेक कवियों ने विविध प्रकार की रचनाओं से राजस्थानी काव्य का भण्डार भरा है और भर रहे हैं। यहाँ कतिपय का नामोल्लेख किया जाता है : सर्वश्री गजानन वर्मा, स्व० रावल नरेन्द्रसिंह जोबनेर, मुहम्मद सदीक, किशोर कल्पनाकांत, ओंकार पारीक, वेदव्यास, दुर्गादान सिंह गौड़, हरिवल्लभ हरि, गिरधारीलाल मालव, गौरीशंकर शर्मा, माणक तिवारी बन्धु, गणपतिचन्द्र भण्डारी, रामदेव आचार्य, चण्डीदान सादू, रेंवतसिंह भाटी नरवर, मुकन्ददान भुवाल, अक्षयसिंह रतनू जयपुर, हणूतसिंह देवड़ा जालोर, देवकर्ण बारहट इन्दोकली, देवकर्णसिंह राठौड़ उदयपुर, कविराव मोहनसिंह उदयपुर, शक्तिदान कविया जोधपुर, रशीद अहमद पहाड़ी, दयाशंकर आर्य, छगनलाल शर्मा, गोपाललाल प्रजापति ब्रजेश चंचल, अमर देपावत, रेवतदान चारण, लक्ष्मणसिंह रसवंत, त्रिलोक गोयल, रावत सारस्वत, भीम पांडिया, मदनगोपाल शर्मा, देवकिशन राजपुरोहित, बस्तीमल सोलंकी, सवाईसिंह धमोरा, चन्द्रकुमार सुकुमार आदि-आदि।

राजस्थानी में भी 'नई कविता' की लहर आई है किन्तु यहाँ के कवियों ने वर्तमान समय में ग्रामीण जीवन में हो रहे परिवर्तनों और उसके बदलते मूल्यों का मुख्यतः तथा व्यक्तिगत जीवन में हो रहे वैचारिक-मानसिक परिवर्तनों का सामान्यतः चित्रण किया है। उन्होंने राजनैतिक व्यंग्य भी किए हैं।

अनेक चित्रण अत्यन्त प्रभावी हैं। नई पीढ़ी के ऐसे कवियों में मणि मधुकर, तेजसिंह जोधा, रामेश्वरदयाल श्रीमाली, चन्द्रप्रकाश देवल, प्रेम जी 'प्रेम', पारस अरोड़ा, हरमन चौहान, गोरधनसिंह शेखावत, रामस्वरूप परेश, मोहन आलोक, कृष्णगोपाल शर्मा, नन्द भारद्वाज, भंवरसिंह सामौर आदि की गणना है। इनमें जहाँ कई कवियों की लेखनगति मन्द पड़ गई है, वहाँ और नए कवि भी सामने आ रहे हैं।

राजस्थानी का साहित्यिक अतीत अत्यन्त महान् और गौरवपूर्ण है, उसका वर्तमान उज्ज्वल और आशापूर्ण है। वर्तमान में अनेक साहित्यकार गद्य और पद्य की अनेक विधाओं में रचनाएँ कर रहे हैं। उनकी अनेक कृतियाँ राजस्थानी ही नहीं किसी भी भाषा के लिए गौरवस्वरूप हैं।

इन साहित्यकारों के लिए यह विशेष गौरव की बात है कि राजस्थानी की संवैधानिक मान्यता न होते हुए भी ये इसमें सहज प्रेमवश रचना कर इसको समुन्नत कर रहे हैं। राजस्थानी का वर्तमान साहित्य स्पर्धा का विषय है, उपेक्षा का नहीं। इसकी उन्नति में योग देना प्रत्येक साहित्य प्रेमी राजस्थानी का पावन कर्त्तव्य है।

## गद्य

अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की तुलना में राजस्थानी का गद्य न केवल समृद्ध और विशाल ही है, वरन् उसकी परम्परा भी निर्विच्छिन्न रूप से, सतत प्रवहमान मिलती है। विषय-वस्तु और शैली की दृष्टि से आधुनिक राजस्थानी गद्य में आरम्भिक और मध्यकालीन गद्य से भिन्नता लक्षित होती है। इसका कारण पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव, वैज्ञानिक उन्नति और उसके प्रसार तथा विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में गहरे परिवर्तनों का होना है। पहले हम पुराने गद्य साहित्य को लेते हैं।

पुराना गद्य साहित्य निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :—

1. धार्मिक, 2. ऐतिहासिक, 3. कलात्मक, 4. विविध

धार्मिक गद्य के सर्वाधिक पुराने नमूने जैन लेखकों की कृतियों में मिलते हैं। ये कृतियाँ अधिकांश में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की रचनाओं की

टीका के रूप में हैं। मौलिक रचनाएँ कम ही लिखी गई हैं। ये टीकाएँ दो रूपों में मिलती हैं—बालावबोध और टब्बा।

**बालावबोध :**—का मतलब ऐसी टीका से है जो सरल और सुबोध हो तथा जिसको साधारण, अपढ़ और मन्दबुद्धि व्यक्ति भी आसानी से समझ सके। जैन धर्म से सम्बन्धित-अंग, उपांग, मूल सूत्र, स्तोत्र, चरित और दार्शनिक ग्रन्थों आदि पर अनेकशः बालावबोध टीकाएँ मिलती हैं। बालावबोध में मूल की व्याख्या के साथ-साथ सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाली और उनको सरलता से बोधगम्य बनाने वाली अनेक कथाएँ भी होती हैं। इन कथाओं द्वारा मूल सिद्धान्तों को हृदयंगम कराने का प्रयास किया जाता है। ऐसी कथाओं का होना बालावबोध की मुख्य विशेषता है। इस प्रकार, बालावबोध में अनेक कथाओं का संग्रह पाया जाता है। ये कथाएँ दो क्षेत्रों में विशेषतः ली गई हैं—1. जैन जगत में प्रचलित परम्परागत और पौराणिक कथाएँ तथा, 2. लोक प्रचलित कथाएँ। कभी-कभी दोनों प्रकार की कथाओं का सम्मिश्रण भी कर दिया जाता है तथा प्रसंगानुसार नई कथाएँ भी गढ़ ली जाती हैं। कथाओं के माध्यम से धर्मोपदेश देने की यह पद्धति अत्यन्त सफल और कारगार सिद्ध हुई है। बीच-में दृष्टान्तों का दिया जाना इसी शैली का भिन्न रूप है। बालावबोध सैकड़ों की संख्या में लिखे गए हैं। जैन गद्य का एक महत्त्वपूर्ण और बड़ा भाग ऐसी कथाओं के रूप में है। जैन गद्य का सही स्वरूप बालावबोध की कथाओं में प्राप्त होता है।

**टब्बा** – बालावबोध से संक्षिप्त होता है। इसमें मूल शब्द का अर्थ उसके ऊपर, नीचे व पार्श्व में लिखा जाता है। संवत् 1330 में लिखित 'आराधना' नामक टिप्पणी को 'मरू-गुर्जर' गद्य का सर्वप्रथम नमूना कहा जा सकता है। चौदहवीं शताब्दी गद्य के अन्य नमूने संग्रामसिंह रचित 'बाल शिक्षा' (संवत् 1336), नवकार-व्याख्यान (संवत् 1358), सर्वतीर्थनमस्कार स्तवन (संवत 1359), 'अतिचार' (संवत् 1369), 'तत्व-विचार प्रकरण', 'धनपाल-कथा' आदि में पाया जाता है। अन्तिम रचना के अतिरिक्त इन सभी में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है। इनमें उस समय की भाषा की बानगी मिलती है। छोटी-छोटी होने के कारण इन रचनाओं का महत्त्व प्राचीन परम्परा की कड़ी के रूप में अधिक है, गद्य की प्रौढ़ कृतियों

के रूप में नहीं। 'आराधना' की प्रति ताड़पत्रीय है, वह संवत् 1330 में लिखी गई थी। इस दृष्टि से इसका रचनाकाल 13वीं शताब्दी में कभी होना सम्भव है।

गद्य का प्रौढ़ रूप पन्द्रहवीं शताब्दी से मिलता है। संवत् 1411 में लिखित आचार्य तरुणपत्र सूरि का 'षड़ावश्यक बालावबोध' राजस्थानी गद्य की प्रथम प्रौढ़ कृति कही जा सकती है। इसमें अनेक प्रासंगिक कथाएँ पाई जाती हैं। यह रचना जैन धर्म के 6 आवश्यक कर्मों का ज्ञान कराने के लिए लिखी गई है। इसके बाद तो अनेक बालावबोध लिखे गए। इस शताब्दी के कलात्मक गद्य का श्रेष्ठ नमूना श्री माणिक्यचन्द्र सूरि कृत 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' ( अपरनाम-'वाग्विलास' ) में पाया जाता है। इसकी रचना संवत् 1478 में हुई थी। इसका नाम 'वाग्विलास' इसलिए रखा गया है कि इसमें वर्णनों की प्रचुरता है : कथा तो छोटी सी है। इसमें महाराष्ट्र के पइठाणपुर पट्टण के राजा पृथ्वीचन्द्र और अयोध्या के राजा सोमदेव की पुत्री रत्नमंजरी की प्रेमकथा वर्णित है। अलौकिक शक्तियों का उल्लेख भी है। नायक अलौकिक सात्विक शक्तियों की सहायता से अनेक कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करता हुआ अपने कार्य में सफल होता है। यह रचना मूलतः वस्तु-वर्णन परक है जिसमें नाम-परिगणन पद्धति का भी व्यवहार किया गया है। इसमें वचनिका शैली का तुकान्त गद्य पाया जाता है। द्वीप, नदी, वन, पर्वत, नगर, राजसभा, नायक-नायिका, सेना, हाथी, घोड़े, रथ, युद्ध, स्वयंवर आदि-आदि के वर्णन इसकी विशेषता है। ऋतु-वर्णन और प्रकृति-चित्रण तो अत्यन्त आकर्षक, सूक्ष्म, स्वाभाविक और रोचक है।

इस कोटि की अनेक रचनाओं में कतिपय तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, यथा— 'खींची गंगेव नीवांवत रो दोपहरो', 'राजान राउत रो वात वणाव' आदि। ये विभिन्न प्रकार के वर्णनों की रचनाएँ हैं। पहली तो एक सुन्दर गद्य काव्य का नमूना भी है। इसके वर्णनों की छटा निराली और प्रभावोत्पादक है। इससे मध्ययुगीन राजपूत सामन्त के जीवन और रहन-सहन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। दूसरी रचना में अनेक प्रकार के विभिन्न अवसरोपयोगी वर्णनों का संग्रह मात्र ही नहीं है, उनको एक क्रमबद्ध कथा के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। राजस्थानी साहित्य ऐसी वर्णनात्मक रचनाओं से भरा पड़ा है।

सोमसुन्दर सूरि ( संवत् 1430-1449 ), मेरु सुन्दर ( 16वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध ) पार्श्वचन्द्र सूरि ( संवत् 1537-1612 ) आदि के अनेकश वालाव-बोध राजस्थानी गद्य का सुष्ठु रूप प्रदर्शित करते हैं।

आरम्भिक काल की 'अचलदास खीची री वचनिका' चारण शैली की प्रथम प्रौढ़ और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक रचना है जिसमें कलात्मक तुकान्त गद्य-खण्ड भी पाए जाते हैं। इसमें गागरौनगढ़ के खीची अचलदास की कीर्तिगाथा, उस पर मांडू के सुलतान होशंग गौरी का आक्रमण, गढ़ में वीरांगनाओं का जौहर और युद्ध में अचलदास का वीरगति को प्राप्त होना वर्णित है। यह युद्ध संवत् 1480 में हुआ था। इसका रचियता सिवदास चारणों की गाडण शाखा का था और वह अचलदास के यश को चिरस्थायी रखने हेतु उसने इस 'वचनिका' की रचना की। इसमें युद्ध, सेना और जौहर के वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

इसी परम्परा की एक अन्य रचना 'वचनिका राठौड़ रतनसिंघजी महेसदासोत री' है जो खिड़िया शाखा के चारण जग्गा की रचना है। ( रचनाकाल अनुमानतः संवत् 1716 )। इसमें शाहजहाँ के विद्रोही पुत्रों—औरंगजेब और मुराद के साथ हुए शाही सेना के युद्ध का वर्णन है। शाही सेना का नेतृत्व जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह कर रहे थे। उनके युद्धस्थल से पलायन के पश्चात् राठौड़ रतनसिंह ने मोर्चा सम्भाला और वे युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। वे ही इस 'वचनिका' के नायक हैं। इसमें गद्य भाग अपेक्षाकृत कम है पर वह सुगठित और प्रवाहपूर्ण है।

कलात्मक गद्य के श्रेष्ठ उदाहरण वातो और 'वर्णक' ग्रंथों में मिलते हैं, जिन पर आगे विचार किया जाएगा। 'वचनिका' के अतिरिक्त 'दवावैत' नामक रचनाओं में भी कलात्मक गद्य के अच्छे नमूने मिलते हैं। इनका गद्य भी अधिकांश में 'वचनिका' के गद्य की भांति तुकान्त होता है। यह उल्लेख्य है कि 'दवावैत' की भाषा में यत्र-तत्र खड़ी बोली का मिश्रण पाया जाता है। 'नरसिंहदास की देवावैत' ( भाट मालीदास कृत ), जिनसुखसागर जी की दवावैत ( अपरनाम मजलिस ), ( उपाध्याय रामविजय कृत ), महारावल लखपत दवावैत ( कुंअरकुशल कृत ), महाराजा रतनसिंह की दवावैत ( सिंढायच दयालदास कृत ), महाराव अखमाल देवड़ा की दवावैत ( चारण विहारीदास मेहडू—अनुमानतः संवत् 1674-1730 ( कृत ) ठाकुर रघुनाथ-

सिंहजी की दवावैत ( वारहट दुर्गादत्त कृत ) आदि प्रसिद्ध दवावैतें हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से वचनिका और दवावैतों में प्राप्त तुकान्त गद्य, गद्यकाव्य के समकक्ष रखा जा सकता है।

स्वतंत्र रूप से प्राप्त वचनिका और दवावैत रचनाओं के अतिरिक्त अनेक काव्य ग्रंथों में 'वार्ता' 'वचनिका', आदि शीर्षकों के अन्तर्गत सुन्दर गद्य के उदाहरण मिलते हैं। संवत् 1788 के आसपास रचित रतनू वीरभाण कृत 'राज रूपक' नामक काव्य में कई स्थलों पर 'वार्ता' का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी की रचनाओं—'शिखर वंशोत्पत्ति' तथा 'लावा रासा' ( दोनों कविया गोपाल कृत ) में क्रमशः 'वार्ता' और 'दवावैत' का प्रयोग है। संवत् 1936 में रचित कविराव बख्तावर के 'केहर-प्रकाश' में वार्ता एवं वचनिका विशेष रूप से पाई जाती है।

ऐतिहासिक गद्य :—ऐतिहासिक गद्य और 'वात' साहित्य राजस्थानी गद्य के महत्त्वपूर्ण अंग है। दोनों प्रकार की रचनाओं में कलात्मक गद्य के प्रभूतशः उदाहरण मिलते हैं। ऐतिहासिक गद्य अनेक रूपों में मिलता है, यथा ख्यात, वात, वंसावली, पीढियावली पट्टावली, विगत, हकीगत, हाल, याद, वचनिका, देवावैत आदि।

इतिहास का ही दूसरा नाम ख्यात है। वात में किसी व्यक्ति, जाति घटना या प्रसंग का संक्षिप्त वर्णनात्मक इतिवृत्त होता है। ख्यात और वात में आकार का अन्तर है। ख्यात बड़ी होती है और वात छोटी। वंसावली, पीढिया वली और गुर्वावली में पीढ़ियाँ दी जाती है, साथ में व्यक्तियों का भी किंचित् परिचय रहता है। 'विगत' विवरण को कहते हैं। हकीगत और हाल में किसी प्रसंग या घटना का ब्योरेवार और विस्तृत वर्णन होता है। याद याददाश्त के तौर पर लिखी गई बातों और घटनाओं के विवरण को कहते हैं। वचनिका और दवावैत के विषय में ऊपर संकेत किया जा चुका है। सम्राट अकबर के शासनकाल में इतिहास-लेखन को बहुत प्रोत्साहन मिला। राजपूत राजाओं ने भी उससे प्रेरित होकर अपने-अपने राज्यों की ख्यातें लिखवाने के यत्न किए। इनके लेखक राजकीय कर्मचारी, पंचोली आदि थे। स्वतंत्र रूप से भी ख्यातें लिखी गईं। ऐसे लेखकों में तीन के नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं—मुहणोत नैणसी, असिया बांकीदास और सिंढायच दयालदास। इनकी ख्यातों का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से तो है ही, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी बहुत है।

नैणसी की ख्यात अलग-अलग बातों का संग्रह है जिनको एक क्रम से लगा देने पर इतिहास बन जाता है। बांकीदास की बातें छोटी-छोटी और फुटकर 'नोटों' के रूप में हैं। दयालदास की ख्यात में राठौड़ों का, विशेषतः बीकानेर के राजघराने का क्रमवद्ध इतिहास है। नैणसी और दयालदास की ख्यात में अनेक स्थलों पर वड़े मार्मिक चित्रण और वस्तु-वर्णन पाए जाते हैं। नैणसी की ख्यात से चारण शैली के अनेक आरम्भिक कवियों, यथा—गाडण पसायत, खिड़िया चानण आदि तथा कविताओं (जैसे बादर ढाढीकृत वीरमायण) के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है और तत्संवंधी अनेक मान्यताओं की पुष्टि होती है। इसी प्रकार दयालदास की ख्यात भी बहुत से कवियों और कविताओं की जानकारी का स्रोत है। इनमें अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों की कविताओं के नमूने मिलते हैं। इतिहास के अतिरिक्त सांस्कृतिक और साहित्येतिहास के लिए ये परम उपादेय हैं। कई वंशावलियों और ख्यातों में नाम का तो अन्तर है पर विषय और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से उनमें विशेष अन्तर नहीं है। राठौड़ वंश री विगत एवं 'राठौड़ा री वंशावली' (राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर) तथा 'राठोड़ा री वंशावली सी हैजी सूं कल्याणमलजी ताईं' (हस्तलिखित प्रति-अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर) एक प्रकार से ख्यातें ही हैं। अन्तिम 'वंशावली' का लेखन-समय संवत् 1635 के लगभग है और यह प्राचीन ख्यात है। इसमें भी सरस गद्य के अनेक नमूने पाए जाते हैं।

इन ख्यातों और वंशावलियों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक गद्य-रचना दलपत-विलास है। इसकी हस्तलिखित प्रति अपूर्ण है और रचयिता भी अज्ञात है। अनुमानतः इसका रचनाकाल संवत् 1665 के लगभग होना चाहिए। गद्य का प्रौढ़ और प्रांजल रूप इसमें पाया जाता है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विवरणों और वर्णनों को प्रवाहपूर्ण और चित्ताकर्षक रूप में लिखा गया है। इतिहास के लिए तो यह अमूल्य कृति है ही, चरितनायक समसामयिक होने से व्यक्ति-चित्रण और युगीन घटनाओं के वर्णन की दृष्टि से भी इसमें एक विश्वसनीयता पाई जाती है जो पाठक को आत्म विभोर करने के साथ वर्ण्यवस्तु की सच्चाई भी उजागर करती है। अतः इसका साहित्यिक महत्त्व भी बहुत है।

**कलात्मक गद्य**—कलात्मक गद्य के संबन्ध में पहले भी संकेत किया जा चुका है। वर्णनात्मक ग्रंथों (यथा—सभाशृंगार, वर्णक-समुच्चय आदि) और

वचनिकाओं के अतिरिक्त 'वात' साहित्य श्रेष्ठ कलात्मक गद्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। लोक-प्रसिद्धि है कि राजस्थानी वातों, दोहों और गीतों (डिंगल गीतों) की संख्या असंख्य है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। कलात्मक गद्य की दृष्टि से वातों का स्थान सर्वोपरि है। वातों में मध्ययुगीन जीवन का बहुमुखी चित्रण मिलता है। ध्यातव्य है कि ये वातें कही और सुनी जाती थीं। वातों का पूरा आनन्द कहने और सुनने से सम्बन्धित परिस्थितियों की समग्रता में ही लिया जा सकता है। कहने वाले आकर्षक शैली में वातों को कहते थे। कथनशैली और कथ्य की रोचकता के कारण श्रोताओं की जिज्ञासा वात के अन्त तक बनी रहती थी। श्रोताओं में से एक का 'हूँकारा' देना आवश्यक था। वातों का उद्देश्य मनोरंजन के अतिरिक्त व्यक्त या अव्यक्त रूप में ज्ञानवर्द्धन, व्यवहार-कुशलता, नीति आदि की शिक्षा भी रहता था। इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक था और इसी कारण ये सभी श्रेणी और वर्ग के लोगों की तुष्टि करती थीं। अनेक वातों के बीच-बीच में दोहों-सोरठों का प्रयोग भी किया जाता था। वातें मौखिक परम्परा में प्रचलित रही थीं पर सत्रहवीं शताब्दी से उनको लिपिबद्ध भी किया जाने लगा। आकार की दृष्टि से बड़ी और छोटी—सभी प्रकार की वातें मिलती हैं। विषय की दृष्टि से वातों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

1. शौर्य प्रधान—ऐसी वातों की संख्या सर्वाधिक है, जो वीरभूमि राजस्थान के लिए स्वाभाविक ही है। कुंवर रणमलरी वात, राजा नरसिंघ री वात आदि ऐसी वातें हैं।
2. प्रेम प्रधान (ढोला-मारू, जलाल-बूबना, ससि-पूनो आदि)।
3. हास्य प्रधान (च्यार मूरखां री वात, खुदाय बावजी री वात आदि)।
4. नीति प्रधान (गोदावरी तीर रै जोगी री वात, वंधी बुहारी री वात आदि)।
5. निर्वेद प्रधान। इनकी संख्या अधिक नहीं है। (रावल मल्लीनाथ पंथ में आयौ तै री वात, रामदे तुंवर री वात आदि)।
6. कुतूहल-प्रधान। ऐसी वातें बड़ी संख्या में मिलती है (जीजी डाभी री वात, मानधाता री वात आदि)।

उल्लेख्य है कि अधिकांश वातें शौर्य और प्रेम से सम्बन्धित हैं। अनेक

में तो शौर्य और प्रेम का मिलाजुला रूप दिखाई देता है। 'जलाल बूबना' में जलाल प्रेमी होने के साथ वीर भी है।

कथानक के अनुसार वातें तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती है :—

1. ऐतिहासिक वातें—ख्यात तुल्य वातें इसी वर्ग में आती हैं (मोहिला री वात, राव जोधै रै बेटां री वात आदि)।

2. अर्द्ध-ऐतिहासिक वातें। ऐसी वातों में पात्र या घटनाएँ तो ऐतिहातिक होती हैं पर उनमें कल्पना का पर्याप्त पुट मिला रहता है। यह वर्ग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रेरणा और ओज समन्वित ऐसी वातें साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान हैं। (जगदेव पंवार री वात, वीरमदेव सलखावत री वात आदि)।

3. कल्पित वातें। इनमें पात्र और घटनाएँ—सभी कल्पित होते हैं। आधार के लिए कभी-कभी प्रसिद्ध पुरुषों के नाम अवश्य ले लिए जाते हैं—जैसे विक्रमादित्य, भोज आदि। (साहूकार री वात, विणजारै—विणजारी री वात आदि)।

वातों के प्रतिपाद्य विषय में घटना, कार्य, चरित्र, वातावरण एवं प्रभाव आदि रहते हैं। इनके अनुसार भी वातों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है, यथा—

1. घटना प्रधान—(साईं री पलक में खलक, पलक दरियावरी वात आदि)।

2. कार्य-प्रधान—(इनमें पात्रों द्वारा किए गए कार्यों को विशेष महत्त्व मिलता है। (राजा रिसालू री वात, खींवै बीजै री वात आदि)।

3. चरित्र प्रधान। ऐसी वातो में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। (वीरमदेव सोनगिरा री वात, कुंवरसी सांखला री वात आदि)।

4. भावना प्रधान वातों में किसी भावना-विशेष की ओर ध्यान केन्द्रित रहता है (जैतसी ऊदावत री वात वचन-निवहि की भावना) (वीरै देवड़ै री वात आत्मसम्मान की भावना) आदि।

5. प्रभाव प्रधान वातों में मुख्य लक्ष्य एक प्रभाव पैदा करना होता है (तुरत दान महापुन आदि)।

कतिपय लेखकों ने भी इन वातों की शैली पर अपनी-अपनी वातें लिखी

हैं। उदाहरणार्थ, व्यास भवानीदास कृत राजा भोज री पंदरवीं विद्या री वात, महाराजा बहादुरसिंह कृत रावत प्रतापसिंघ म्होकमसिंघ हरिसिंघोत री वात, कृपाराम वणसूर कृत सुगणा-सत्रसाल री वात आदि।

बहुत सी वातें वर्ग विशेष से भी सम्बन्धित हैं, जैसे चोर, त्रिया-चरित्र आदि। अनेक वातों के शीर्षक प्रचलित कहावतों के आधार पर भी रखे गए हैं। ऐसी वात में तत्सम्बन्धी कहावत प्रतिफलित होती है। बाळूं सोनो जो कान तोड़े, ऊँट न कूदिया कूदिया बोरा आदि ऐसी वातें हैं।

वर्तमान काल के अनेक लेखक भी इस वात साहित्य की ओर आकृष्ट हुए हैं। वे अनेक लोक-प्रचलित वातों को उस शैली और गठन में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत कर रहे हैं। विजयदान देथा ( वातां री फुलवाड़ी ), गोविन्द अग्रवाल श्रीमती लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, मूलचन्द 'प्राणेश' आदि लेखकों ने अनेक वातों का संकलन-प्रकाशन किया है।

कथा :—कथा भी राजस्थानी गद्य का एक सशक्त रूप प्रस्तुत करती है। कथाएँ सामान्यतः धार्मिक और पौराणिक विषयों पर होती हैं। श्रद्धालु स्त्री समाज में तो ऐसी कथाएँ आज भी बहुप्रचलित हैं। विशेष वार, तिथि, पर्व त्यौहार, देवी-देवता आदि-आदि से सम्बन्धित सैंकड़ों कथाएँ प्रसिद्ध हैं। अधिकांशतः कथाएँ छोटी-छोटी होती हैं, किन्तु बड़ी कथाएँ भी मिलती हैं, जैसे—रामकथा आदि।

विविध :—इनके अतिरिक्त राजस्थानी गद्य के नमूने शिलालेखों, पट्टे-परवानों, पत्रों आदि में मिलते हैं। उनकी प्रामाणिकता भी सन्देह से परे है।

संक्षेप में कहा जा सकता है उल्लिखित रूपों में राजस्थानी गद्य की परम्परा चौदहवीं शताब्दी से निरन्तर प्रवहमान मिलती है।

## आधुनिक काल ( गद्य )

आधुनिक राजस्थानी गद्य लेखक के रूप में शिवचन्द्र भरतिया का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, नाटक आदि विधाओं में सशक्त गद्य के नमूने प्रस्तुत किए।

उपन्यास—भरतिया का 'कनक सुन्दर' ( सन् 1903 ) उपन्यास राजस्थानी का पहला उपन्यास कहा जा सकता है। लेखक ने इसके लिए 'नवल कथा' शब्द का प्रयोग किया है जो गुजराती में उपन्यास के लिए प्रचलित नाम

है। इसके पश्चात् श्रीनारायण अग्रवाल के 'चम्पा' ( सन् 1925 ) का नाम आता है। ये दोनों आदर्शवादी और सुधारवादी उपन्यास हैं। कनक सुन्दर में दो परिवारों की कथा है जिनमें एक सामाजिक कुरीतियों में फंसा हुआ है और दूसरा इनको सर्वथा छोड़ चुका है। लेखक का मन्तव्य दूसरे परिवार को आदर्श के रूप में चित्रित करते हुए उसका अनुकरण करने की प्रेरणा देना है। 'चम्पा' में वृद्ध विवाह की समस्या को उठाया गया है।

'चम्पा' के प्रकाशन के लगभग तीन दशकों के बाद इस विधा का पुनः सूत्रपात श्री श्रीलाल नथमल जोशी ने किया। उनके 'आभै-पटकी' (सन् 1956) में मुख्यतः विधवा-विवाह की समस्या और उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है। साथ ही सामाजिक कुरीतियों और आडम्बरों का भण्डाफोड़ भी किया गया है। जोशी के अन्य उपन्यास "धोरां रो धोरी" ( सन् 1968 ) तथा 'एक बीनणी दो बीन' ( सन् 1973 ) हैं। पहला राजस्थानी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ॰ टैसीटरी के जीवन-वृत्त से संबंधित है। दूसरा टैनीसन की वर्णनात्मक बड़ी कविता 'इनक-आर्डन' के आधार पर लिखा गया है। जोशीजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। उनके उपन्यास आदर्शवादी हैं। घटनाओं का संयोजन भी इसी के अनुरूप किया गया है।

अन्नाराम 'सुदामा' के तीन उपन्यास—मैकती काया मुलकती धरती ( सन् 1966 ) 'आंधी अर आस्था '( 1974 ) तथा मेवै रा रूंख ? ( 1977 ) प्रकाश में आए हैं। पहले में पति-परित्यक्ता सुगनी ( अपरनाम-सुथारी नानी ) की तथा दूसरे में जमींदार-प्रताड़ित एक ग्रामीण ब्राह्मण परिवार की कथा है। जीवन के प्रति आस्था और संकटों को धैर्य पूर्वक सह लेने की क्षमता के स्वर दोनों में मुखरित हैं। पहले में धरती-प्रेम का भी परिचय दिया गया है। सुदामा की अपनी शैली है और भाषा मुहावरों और कहावतों से युक्त है। मेवै रा रूंख एक अत्यन्त प्रभावशाली उपन्यास है जिसमें आपातकाल ( जून 1975 मार्च 1977 ) की घटनाओं ( विशेषतः जबरन नसबन्दी की ), उस समय के तथाकथित पुराने और नये नेताओं, गांव के कर्जदाता व्यापारियों, वहां के महन्त और इन सबके बीच अनेक समस्याओं से घिरे हुए तथा किसी न किसी प्रकार जीवन-यापन करने वाले गरीब ग्रामवासियों का हृदयग्राही और यथार्थ चित्रण किया गया है। कर्जदाता साहूकार को ही 'मेवै का रूंख' कहा गया है। जुल्म, शोषण और तत्कालीन आतंक के विरुद्ध प्रतिवाद स्वरूप कतिपय ग्रामवासियों का दृढ़ता से खड़ा होना आस्था और आशा का संचार करता है। सुदामा की शैली का चरमोत्कर्ष इस उपन्यास में दिखाई देता है।

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने दो उपन्यास लिखे हैं—'हूँ गोरी किण पीव री' ( 1970 ) तथा 'जोग-संजोग' ( 1973 )। पहले में कुम्हार परिवार की एक विधवा-सूरजड़ी को केन्द्रबिन्दु बनाया गया है। दूसरे में एक मध्यमवर्गीय व्यापारी-वटुक के पुत्र गणेश का वृत्तान्त है जो अन्ततः एक क्रिश्चियन लड़की से विवाह कर लेता है। आकस्मिक संयोगों के सहारे 'चन्द्र' ने उपन्यासों का ताना-बाना बुना है। 'हूं गोरी किण पीव री 'बहुत प्रभावशाली उपन्यास है। इसके अनेक चित्रण मनोवैज्ञानिक और आकर्षक हैं।

छत्रपतिसिंह के 'त्रिशंकु' में एक जमींदार के पुत्र पवन की कहानी है। इसमें उसके रोमान्स, उस पर क्रान्तिकारी विचारों के प्रभाव और अन्ततोगत्वा उसके सुधारवादी दृष्टिकोण और कार्य के वर्णन किए गए हैं। इसका गठन शिथिल और कई वर्णन अवांछित हैं। विचारधारा की दृष्टि से इसमें अवश्य कुछ नवीनता है।

सत्येन जोशी का कवल पूजा ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें जैसलमेर के आरम्भिक इतिहास से सम्बन्धित युद्धों और घटनाओं का उल्लेख है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें व्यक्त उल्लेखों से मतभेद सम्भव है पर इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने एक नई दिशा की ओर इंगित किया है।

सीताराम महर्षि के 'कुण समझै चंवरी रा कौल' तथा 'लालड़ी एक फेरूं गुमगी', विवाह और वैवाहिक जीवन की विसंगतियों के प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करते हैं। दोनों उपन्यासों में घरेलू वातावरण की सृष्टि करते हुए मानवीय दुर्बलताओं और भावनाओं का प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

विजयदान देथा का 'तीड़ोराव' लोक कथा के आधार पर लिखा गया उपन्यास है। तीड़ो राव संयोग और तिकड़म से मिली सफलता का द्योतक है।

रामनिवास शर्मा के 'काल भैरवी' ( संवत् 1976 ) में ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि पर तान्त्रिक साधना का चित्रण किया गया है।

कई उपन्यास पूरे या अधूरे रूप में अनेक पत्र-पत्रिकाओं ( जैसे-हरावल, ओळमो, लाडेसर आदि ) में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। दीनदयाल कृत 'गुंवार पाठौ' किशोर कल्पनाकान्त कृत 'धाड़वी' रामदत्त सांकृत्य का 'आभलदे' ( अब पृथक् से भी ) लक्ष्मीनिवास बिड़ला कृत 'पदमणी रो सराप' आदि ऐसे उपन्यास हैं।

पारस अरोड़ा के 'खुलती गांठा' ( 1977 ) में तीन नवयुवकों और उनकी मित्र लड़कियों की कहानी है। लेखक इनमें से एक का अन्तर्जातीय विवाह करवाता है। बी० एल० माली का 'मिनख रा खोज' में हिन्दू समाज में व्याप्त जातिवाद को मिटाने का प्रयास व्यंजित है। उच्च और निम्न जातियों में फैले अवैध यौन-संबन्धों का उल्लेख करते हुए एक हरिजन लड़के और लड़की के विवाह उच्च जाति की लड़की और लड़के से करवाकर इसका मार्ग प्रशस्त किया गया है। हम इन लेखकों से और वैचारिक प्रौढ़ता की आशा करते हैं।

कुल मिलाकर राजस्थानी में अब तक लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे गए हैं। हर्ष की बात है कि श्रीलाल नथमल जोशी सहित सभी लेखक सक्रिय हैं और कतिपय नए लेखक भी सामने आ रहे हैं। हम इनसे और अधिक उपन्यासों की आशा करते हैं।

**कहानी**—आधुनिक कहानी पश्चिम की देन है। राजस्थानी की पुरानी वातों और कथाओं का उल्लेख कर आए हैं। कहानी का आरम्भ भी शिवचंद्र भरतिया की कहानी 'विश्रान्त प्रवासी' ( सन् 1904 ) से होता है। इसके पश्चात् गुलावचन्द नागौरी रचित 'बड़ी तीज', बेटी की बिक्री तथा बहू की खरीदी ( सन् 1912 ), शिवनारायण तोषनीवाल कृत 'विद्या परम देवतम्' स्त्री शिक्षण को ओनामो ( सन् 1916 ) आदि कहानियों का स्थान है। ये विभिन्न सामाजिक समस्याओं से संबन्धित कहानियाँ हैं। इसके लगभग बीस साल बाद सन् 1936 के आसपास बीकानेर के मुरलीधर व्यास, श्रीचन्द राय आदि ने कहानियाँ लिखना आरम्भ किया। सन् 1950 से विविध प्रकार की कहानियाँ प्रभूत मात्रा में लिखी जाने लगीं। अनेक लेखकों ने अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं, यथा-सुधारवादी और आदर्शवादी, सामाजिक, सामाजिक जीवन और वैचारिक परिवर्तनों को लक्ष्य करने वाली, ऐतिहासिक, धार्मिक, व्यंग्यात्मक आदि। यह विधा अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न है। प्रमुख कहानी लेखकों में सर्वश्री मुरलीधर व्यास, मनोहर शर्मा, नानूराम संस्कर्ता, नृसिंह राजपुरोहित अन्नाराम 'सुदामा', मूलचंद 'प्राणेश', रामेश्वरदयाल श्रीमाली, किशोर कल्पनाकान्त, प्रेमजी 'प्रेम', व्रजनारायण पुरोहित, नंद भारद्वाज, रामनिरंजन शर्मा, व्रजमोहन जावलिया, सोभाग्यसिंह शेखावत, श्रीमती लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, बी० एल० माली आदि हैं। इनकी कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, संकलन-ग्रंथों ( और स्वतंत्र पुस्तकाकार रूप में भी ) प्रकाशित हुई हैं।

**नाटक-एकांकी**—शिवचन्द्र भरतिया का 'केसर विलास ( सन् 1900 ) पहला नाटक माना जा सकता है। अन्य लेखकों में भगवती प्रसाद दारुका ( वाल विवाह नाटक, वृद्ध विवाह नाटक आदि ), गुलावचन्द नागौरी ( मारवाड़ी मौसर और सगाई जंजाल ) वालकृष्ण लाहोटी ( कन्या विक्री ) आदि के नाम हैं। मदनमोहन सिद्ध का 'जयपुर की ज्योणार' तो वहुत ही प्रसिद्ध हुआ। यह तथा जमना प्रसाद पचोरिया का 'नई वीनणी' स्टेज की दृष्टि से भी अपेक्षाकृत सफल नाटक हैं। इन सभी नाटकों में किसी न किसी सामाजिक समस्या को आधार वनाया गया है। इनके अतिरिक्त महाभारत को श्रीगणेश, महाराणा प्रताप ( नारायणदास अग्रवाल कृत ), प्रणवीर प्रताप ( गिरधारीलाल शास्त्री कृत ), पन्नाधाय ( आज्ञाचन्द्र भण्डारी कृत ) आदि नाटक भी लिखे गए हैं। ये ऐतिहासिक नाटक हैं। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'तास का घर' ( सन् 1973 ) शहरी जीवन की अनेक समस्याओं और विसंगतियों का वर्णन करता है। यह स्टेज पर खेला जा सकता है और प्रभावशाली नाटक है।

**एकांकी**—कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले एक हिन्दी मासिक पत्र—वैश्योपकारक में सन् 1904 में कुछ संवाद 'कनक सुन्दर' नाम से प्रकाशित हुए थे। उसी में माधवप्रसाद मिश्र ने 'वड़ा वजार' ( सन् 1905 ) नामक संवाद प्रकाशित करवाया था। ये एकांकी के वहुत निकट हैं। शोभाचन्द जम्मड़ का वृद्ध-विवाह विदूषण ( सन् 1930 ) श्रीनाथ मोदी का गांव सुधार या गोमा जाट ( सन् 1931 ) तथा सूर्यकरण पारीक का वोळावण या प्रतिज्ञापूर्ति आरंभिक एकांकियों में से है। गोविन्दलाल माथुर के कई एकांकी 'सतरंगिणी' ( सन् 1955 ) में प्रकाशित हुए हैं। इनमें शहरी और ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याओं को उठाया गया है। अन्य लेखकों में नारायणदत्त श्रीमाली ( छियां तावड़ो ), दामोदरप्रसाद ( तोप रो लाइसैंस ), श्रीमंतकुमार व्यास ( चानणो ), जगदीश माथुर, ( पिंतरा रो आगमन ), सुरेन्द्र अंचल ( रगत एक भिनख रो ), सत्यनारायण 'अमन' ( गुवाड़ री जायोड़ी ), आज्ञाचंद भण्डारी ( वदले री आग ) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने सामाजिक जीवन और उसकी वास्तविकताओं का चित्रण किया है। मनोहर शर्मा ( नैणसी रो साको ), लक्ष्मीकुमारी चूंडावत (सामधरमा माजी), रामदत्त सांकृत्य ( देश रो हेलो ), गणपतिचन्द्र भण्डारी ( सीहांजाय साव ), दामोदर प्रसाद ( कामरां री आंखड़ल्यां ) आदि ने ऐतिहासिक एकांकी लिखे हैं। अंतिम एकांकी के अतिरिक्त सभी राजस्थान और/या राजपूत जीवन से संबंधित हैं। रावत सारस्वत ( संपादक री मौत ), वैजनाथ पंवार ( आपणों

खास आदमी ), विनोद सोमानी 'हंस' ( रंग में भंग ) आदि लेखकों ने व्यंग्यात्मक एकांकी लिखे हैं।

**रेखाचित्र, संस्मरण, यात्रा संस्मरण आदि**—इस क्षेत्र में मुरलीर व्यास अग्रणी लेखक हैं। उनका रेखाचित्र संग्रह 'जूना जींवता चितराम'—नाम से प्रकाशित है। इस में पेशेवर लोगों के रेखाचित्र हैं। श्रीलाल नथमल जोशी का 'सबड़का' रेखाचित्र संग्रह बहुचर्चित रहा है। इसमें अधिकांशतः हास्य रेखाचित्र हैं। शिवराज छंगाणी (उणियारा ओलखाण), कुंजबिहारी शर्मा (बांता ही चालै), व्रजनारायण पुरोहित ( अटारवां, वकील साहब ) आदि लेखकों ने इस विद्या में उल्लेख्य योगदान दिया है। पुस्तक रूप में प्रकाशित इन रेखाचित्र और संस्मरणों के अतिरिक्त अनेक रेखाचित्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं।

अन्नाराम 'सुदामा' का 'दूर दिसावर' ( सन् 1973 ) एक प्रभावशाली यात्रा-संस्मरण है।

**गद्य-काव्य**—सन् 1946 में सुप्रसिद्ध कवि चन्द्रसिंह ने 'सीप' नाम से 9 गद्य काव्य-गुच्छ प्रकाशित करवाए थे। इस विधा में उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण कार्य कन्हैयालाल सेठिया और गोविन्द्र अग्रवाल के हैं। सेठिया का 'गलगचिया' और अग्रवाल का 'चुकती दाणा' श्रेष्ठ गद्य काव्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

**निबन्ध**—ललित निबन्ध लेखकों में उल्लेखनीय नाम ब्रजलाल बियाणी का है। उनके मोगरा कली, बड़ी फजर को दीवो, मारवाड़ी बोली आदि निबन्ध इस विधा के उत्तम नमूने हैं। गिरिराज भंवर, कृष्णगोपाल शर्मा, मनोहर शर्मा, रावत सारस्वत, आदि लेखकों ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किए हैं।

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर आलोचनात्मक निबन्ध, टिप्पणियां पुस्तक समीक्षाएँ आदि भी प्रकाशित हुई हैं और होती रहती हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि गद्य की प्रायः सभी विधाओं में अनेक लेखक सक्रिय रूप से योगदान दे रहे हैं। लेखकोंको कटिबद्ध होकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार श्रेष्ठतर कृतियों का सृजन करने में सतत प्रयत्नशील रहने की ओर अधिक आवश्यकता है।

# राजस्थानी लोक साहित्य

डा० मनोहर शर्मा
एवं
श्री मोहनलाल पुरोहित

राजस्थान लोक साहित्य का रत्नाकर है। यहाँ का लोक साहित्य अतीव सरस तथा विविधतापूर्ण है, उसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने प्रशंसापूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत किए हैं। यहां तक कि उसके विविध अंगों पर बहुत बड़ी संख्या में शोध लेख लिखे गए हैं। इसी क्रम में कई शोध प्रबन्ध भी प्रस्तुत किए गए हैं। राजस्थान का लोक साहित्य अपने ढंग का अनूठा और निराला है। यहाँ उसके विषय में कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है। निसन्देह प्रत्येक प्रान्त के गांवों का अपना साहित्य होता है। सामान्यतया उसे लोक साहित्य की संज्ञा दी जाती है। अतः किसी भी प्रदेश की संस्कृति को समझने परखने के लिए उसकी मूल बोली का साहित्य—लोक साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक है। वहाँ की जनता के रीति रिवाज, उसकी सामाजिक आर्थिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, धार्मिक और राजनीतिक धारणाओं एवं विश्वासों का सही चित्रण उसके लोक साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। अतः आज इस आधुनिक-युग में भी लोक साहित्य का अध्ययन, मनन एवं चिन्तन एक बड़ी सीमा तक आवश्यक एवं उपादेय है।

लोक-साहित्य के विविध अंग हैं। उनके नाम लोक गाथा, लोक-गीत, पहेली, सुभाषित, लोक कथा, कहावत आदि-आदि हैं। इनमें सबका अपना अलग-अलग महत्त्व है ; परन्तु सर्वाधिक महत्व संभवतः लोक-गीत को दिया जाना उचित है। अतः सर्व प्रथम राजस्थानी लोक-गीतों पर प्रकाश डालते हुए लेख का प्रारम्भ किया जाता है—

## राजस्थानी लोक-गीत

[1]'पैटी के शब्दों में लोक-गीत आदि मानव का उल्लासमय संगीत है'। 'गीतों' की सृष्टि और व्यापकता के विषय में[2] सिजविक लिखते हैं—लोक-गीत की सृष्टि, साहित्य की सृष्टि से यहाँ तक की वर्ण-माला की सृष्टि से पहले का है। वह अनुश्रुति का अंग है। महात्मा गाँधी के कथनानुसार 'लोक-गीत ही जनता की भाषा है।' लोक-गीतों के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख मिलता है—लोक-गीत, निर्जीव संग्रह-ही नहीं—यह तो मानव हृदय के स्वाभाविक उद्‌गारों का एक निर्मल प्रतिविम्ब है। अंग्रेजी का शब्द 'Folk-song' ( फॉक-सॉंग ) जर्मनी के 'Volkshied' का अपभ्रंस है। समस्त जन-समाज में चेतन-अचेतन रूप में जो भावनाएँ गीत-बद्ध होकर व्यक्त हुईं उनके लिए लोक-गीत उपयुक्त शब्द है। ग्रिम के शब्दों में 'लोक-गीत' अपने आप बनते हैं। लोक-गीत हमारे लोक-जीवन का अंग है और लोक-साहित्य के विना संस्कृति अपूर्ण है।

निसन्देह, भारतीय वाङ्मय में लोक-गीतों का अपना एक विशेष महत्व रहा है। इनमें हमें हर विषय से सम्बन्धित गीत अनायास ही मिल जाते हैं। जन-जीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन लोक-गीतों में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं होता है। लोक-साहित्य के विषय में [3]श्री देवेन्द्र सत्यार्थी लिखते हैं—लोक कला में दरबारी कला की सी बारीकियाँ नहीं रहती। जन-शक्ति की सफल अभिव्यक्ति ही लोक-कला की परम्परा है। और यही बात हम लोक-गीत का अध्ययन करते समय अनुभव करते हैं। यों लगता है कि प्रत्येक पीढ़ी की भावनाएँ, समय-समय पर पुराने गीतों में निहीत होती चली जाती हैं।

---

1. 'This spontaneous music has called Folk-song.'
2. It is older than literature, older than alphabet, It is love and belongs to the illiterate.
3. बाजत आवे ढ़ोल—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी पृ० 62।

सच तो यह है कि यदि किसी समाज का वास्तविक चित्र देखना हो तो, उसके लोक-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। लोक-कवि, लोक-साहित्यकार मानव-समाज को जिस रूप में देखता है, परखता है—वह उसका उसी रूप में वर्णन करता है। और यही कारण है—उसका इस प्रकार का वर्णन सत्य से दूर नहीं होता। ये लोक-गीत, गाथाएँ और कथाएँ जहाँ की भी होती हैं, हमें उन लोक-गीतों, गाथाओं और कलाओं में वहाँ के मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार और वहाँ के रीति-रिवाजों का सच्चा चित्रण देखने को मिलता है। इतना ही नहीं, उनके जीवन की नई-पुरानी अनेकों समस्याएँ भी लोक-गीतों में अभिव्यक्त हुआ करती हैं।

[1]'सफल-साहित्य अपने युग का परिचायक होता अवश्य है, पर वह सामयिक नहीं होता'—एजरापौंड के इस कथन में बहुत बड़ा सत्य निहित है। जब यह कहा जाता है कि लोक-गीत अनेक पीढ़ियों से चले आते हैं, तो हम यह मानकर नहीं चलते कि आज से बहुत पहले इन गीतों का निर्माण हुआ और फिर उसके पश्चात् नए लोक-गीतों का सृजन कभी नहीं हुआ।

बहुत से गीत पुरातन होते हुए भी एकदम नूतन प्रतीत होते हैं। यह इन गीतों के स्थायी महत्त्व का दलील है। यदि वे अपने युग के सामयिक चित्र मात्र होते तो न वे चिरकाल तक जीवित रह सकते और न आज भी नूतन प्रतीत होते।'

सभी देशों के अपने-अपने लोक-गीत होते हैं—राजस्थान भी इसका अपवाद नहीं हो सकता। यहाँ के लोक-गीतों की दुनिया तो बड़ी ही विचित्र है। लोक-गीतों द्वारा जन-जीवन के समस्त-पक्षों के दर्शन हमें होते हैं और उनके दर्पण में हम विशिष्ट जन-समुदाय की भावनाओं और आकांक्षाओं को देख परख सकते हैं। जिस जाति या जन-समाज विशेष के ये लोक-गीत होते हैं, उनमें उस जाति एवं समाज की जीवनानुभूति की अभिव्यञ्जना पाई जाती है। सभी प्रकार की उल्लेखनीय विशेषताओं के साथ-ही-साथ राजस्थानी लोक-गीतों में अपनी स्थानीय विशेषताएँ, विशेष-महत्वपूर्ण, अपने ढंग की निराली एवं प्रशंसनीय रही हैं।

इन लोक-गीतों का वर्गीकरण असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही माना जा सकता है।

---

1 बाजत आवे ढोल—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी पृ० 61।

हमारे लोक-गीतों का संग्रह, अध्ययन, पठन-पाठन अनेक दृष्टियों से बड़े ही महत्वपूर्ण का कहा, माना जा सकता है। सुमधुर, रसमय, होने के कारण ही ये गीत मात्र हमारे जीवन को सरस तथा मधुर ही नहीं बनाते ; इन गीतों के अध्ययन से पाठक अपने दुख-कष्टों को भूल बिसर कर, आनन्द सरोवर में डुबकियाँ ही नहीं लगाता, वरन् इनके अध्ययन से वह जीवन की अनेक समस्याओं, गूढ़तम गुत्थियों एवं अनेकानेक ज्ञातव्य विषयों की सही और लाजवाब जानकारी प्राप्त कर सकता है। हम तो यहाँ तक लिखने का साहस कर सकते हैं कि जीवन को जीवन समझने में, उसके महत्व को परखने, समझने और कूतने में इन लोक-गीतों का एक बड़ा महत्व माना जा सकता है। वैसे तो सांस्कृतिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी इनका महत्व निराला है। भौगोलिक-ज्ञान की दृष्टि से भी ये बड़े ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी लोक-गीतों का ज्ञान और अध्ययन बड़े ही महत्व का रहा है। और सामाजिक दृष्टि से तो ये बड़े ही उपयोगी सिद्ध रहे हैं। लेकिन हमारी भारतीय संस्कृति में संस्कारों का बड़ा ही महत्व रहा है।

हमारे यहाँ मनुष्य के जीवन को लेकर उसे चार-आश्रमों में बाँटा गया है। शरीर और मन की शुद्धता और पूर्ण विकास पर भारतीय-संस्कृति में बड़ा ही बल दिया गया है। अतः जिस प्रकार मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है, उसी प्रकार उसके शरीर और मन के पूर्ण-विकास और शुद्धिकरण को दृष्टिगत रखते हुए मानव-मात्र के कल्याणार्थ सोलह-संस्कार भी बताए गए हैं। हमारी संस्कृति धर्म की भीति पर खड़ी हुई अहिंसा-मूलक रही है। हमारे यहाँ मनुष्य का समूचा जीवन धर्म के बँधनों में बँधा हुआ है। धर्म का यह आधार गर्भाधान से प्रारम्भ होता है। और क्योंकि मनुष्य जीवन या यों कह दें कि मनुष्य शरीर गर्भाधान से ही प्रारम्भ होता है और अन्त समय में श्मशान-भूमि में जाकर उसका अन्त, उसके जीवनकी इतिश्री होती है। इसलिए हमारे यहाँ मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक के लोक-गीत हैं। अर्थात् इन सोलह-संस्कारों से हम मनुष्य-जीवन की पूर्णता समझते हैं। और हमारे यहाँ इन सोलह-संस्कारों के बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक लोक-गीत हैं। ये सोलह-संस्कार क्रमशः इस प्रकार से हैं—

(1) गर्भाधान (2) पुसवन (3) सीमोन्तोन्नयन (4) जात कर्म (5) नामकरण (6) निष्कृपण (7) अन्नप्राशन (8) पूड़ाकर्म (9) कर्ण-वंध (10) उपनयन

(11) वेदारम्भ (12) समावर्तन (13) विवाह (14) वान-प्रस्थ (15) सन्यास (16) अन्त्येष्टि संस्कार। प्रथम-संस्कार के लोक-गीतों को 'हाकरिया' और अंतिम, सोलहवें संस्कार के गीतों को 'पार' या 'सापो' कहते हैं।

वैसे तो हमारे लोक-गीत इन सोलह-संस्कारों के अन्तर्गत आ ही जाते हैं। लेकिन—क्योंकि गीत ही ग्राम-जीवन के संघर्ष की महान गाथा के प्रतीक हैं, समस्त-जीवन की अभिव्यंजना के गेय माध्यम हैं। [1]श्री देवेन्द्र सत्यार्थी लिखते हैं—

'इसमें गाँव का जन-जीवन गाता हैं, रोता हैं, हँसता है, खिल्ली उड़ाता है, मुँह चिढ़ाता है, व्यंग्य कसता है, प्रेम करता है, स्वच्छंद विहार करता है, रूप-दर्शन पर रीझता और कटाक्ष करता है, ऋतु-पर्वों पर आनन्द मनाता हैं, अपने दुखों की शिकायत करता है, स्थानीय महाजन, मुखिया, जमींदार, लगान, कर, वेगार, रोग, सूखा, वाढ़, टिड्डी आदि कष्टों पर दाँत पीसता और हाथ मलता है, घर-खेत-खलिहान पर हर समय के कार्य को गीतों की वाणी देता है। भूत-चुड़ैलों से लेकर देवी-देवताओं की मनौती मनाता है, रिम-झिम वर्षा में जीवन-रस का आह्वान करता है, या फागुन में 'निबुओं की कपट' का रस लेना चाहता है तो साथ ही सामयिक समस्याओं, जातीय भावनाओं, जन आन्दोलनों से उद्वेलित भी होता है। लोक-गीतों की यही सामाजिक सामग्री है, जिसका विस्तार से अध्ययन आवश्यक है।

हमारे यहाँ हर समाज में और जाति में लोक-गीत गाए जाते हैं। हर त्यौहार और शुभ कार्य के पीछे ये 'गीत' हैं। या यों कह दें कि कोई त्यौहार, शुभ कार्य एवं मांगलिक कार्यक्रम लोक-गीतों के बिना सम्पादित नहीं होता। राजस्थानी लोक-साहित्य में समाज का अनूठा चित्रण, जैसा कि पढ़ने-सुनने को मिलता हैं वह बड़ा ही उच्चकोटि का सभ्य एवं शिष्ट रहा है। संयुक्त परिवार भारतीय-संस्कृति का एक प्रमुख अंग और आदर्श रहा है। यहाँ पिता-पुत्र, भाई-बहन, माँ-वेटी, सास-बहू, पति-पत्नी, ननद और भावज, सभी हिलमिल कर आनन्दपूर्वक एक साथ, एक ही घर में निवास करती हैं। और फिर यह स्वाभाविक भी है। एक साथ रहने वालों में जहाँ गहरा प्रेम हो सकता है, वहाँ कभी-कभी छोटी-मोटी बातों को लेकर कटुता भी पैदा हो जाती है। जीवन में सुख ही सुख रहे—दुःख का नामोनिशान भी न रहे, यह तो हम सब चाहते अवश्य हैं। लेकिन क्या यह कभी संभव भी रहा है कि जीवन में दुख, कष्ट

---

1 बाजत आवे ढोल—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी पृ० 20।

आने न पाएँ। सुख-दुख को तो जोड़ा कहा जाता है। अतः साथ में परस्पर रहने वालों में भी कभी-कभी मन-मुटाव, कलह, विग्रह जैसा कुछ हो जाता है। यह एक ऐसा सत्य है, जिस पर दो राय नहीं हो सकती। राजस्थान में एक कहावत है—'मैळा रवै, जणै वासण ही खड़कै।'

राजस्थानी लोक-गीत केवल आदर्शवाद पर आधारित रहे हों—ऐसा भी नहीं है। तो केवल यथार्थवाद की भूमिका पर खड़े हों, ऐसा भी नहीं है। हमारे यहाँ सभी प्रकार के लोक-गीत हैं, जिन्हें हम चाहें, तो आदर्शवाद की कसौटी पर भी परख सकते हैं, तो यथार्थवाद की भीति पर भी वे खड़े उतरते हैं। और ऐसे भी सैकड़ों लोक-गीत हैं, जो आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की भूमि पर पूर्ण रूप से सही उतरते हैं।

वैसे तो हर व्यक्ति की अपनी-अपनी रूचि रहती है। अतः व्यक्ति और समाज भिन्न-भिन्न प्रकार के लोक-गीतों को प्रश्रय देते रहे हैं। फिर भी हमारे यहाँ सामाजिक रूढ़ियाँ कुछ ऐसी बनी हुई हैं, जिन्हें दृष्टिगत रखते हुए ये लोक-गीत परम्परागत रूप से गाए जाते रहे हैं।

यथा, बच्चे के जन्म के समय 'हालरिया' आदि। कहीं-कहीं उस समय 'साँझी' के गीत भी गाए जाते हैं।

## हालरिया—

हालरियों में (1) दाई (2) हारळों गोंरो (3) धतूरो (4) [1]खाँवळो (5) खटो लड़ी आदि। ये लोक गीत जैसळमेर में गाए जाते हैं। और क्योंकि जैसळमेर एक प्राचीन नगरों में रहा है। अपनी प्राचीनता, पुरातत्व और संस्कृति की दृष्टि से भारत में ही नहीं विश्व में अपना विशेष स्थान रखे हुए हैं। वहाँ आज भी हमारी संस्कृति को प्रकाश में लाने वाले सैकड़ों-हजारों वर्षों के भग्नावशेष देखे जा सकते हैं। अतः वहाँ के लोक-गीतों को हम बहुत ही पुराने परम्परागत और विशुद्ध गीत मानकर चलते हैं।

वहाँ लोक-गीत एक बँधे-बँधाए रूप में आज तक गाए जाते रहे हैं।

[2]इसी प्रकार बच्चे के जन्मोत्सव पर बीकानेर में (1) दाई (2) गूगही (3) पीळो, (4) अनुवों, (5) धतूरो माळणो आदि लोक गीत गाए जाते हैं।

---

1. राजस्थानी संगीत पहला भाग —श्री सागरमल गोपा पृ० 110, पृ० 112
2. धारो वाळो देश
—श्री मुरलीधर व्यास, मोहनलाल पुरोहित ( हमारा अप्रकाशित संग्रह )

**विवाह के गीत—**

हमारे यहाँ हर माँगलिक कार्यों में गजानन्द भगवान की पूजा सर्व-प्रथम हुआ करती है। इन्हें 'गणेश', 'गणाधिपति', 'गणपति' 'विनायक' आदि कई नामों से संबोधित किया जाता है। अतः राजस्थान के सभी लोक-गीतों में 'गणेश' या 'विनायक' के गीत तो रहते ही हैं। चाहे विवाह लड़के का हो या लड़की का—'विनायक' की पूजा और विनायक के गीत सर्व-प्रथम गाए ही जाएँगे।

'विनायक' पीठी—( विवाह में वर या वधू को नहलाते समय के गीत ), सो वे ळा ( घर में प्रथम कोई प्रसाद बनाते समय जब चूल्हे पर कोई बरतन रख जाए ) छोड़ी, कंवळा, रा ळोटों, बनड़ [1]रेजो, कलंगी, फेरों, बालेसर, कंथा आदि गीत प्रमुख होते हैं। ( जैसलमेर )

लड़की जब विवाह से पूर्व घोड़े पर सवार होकर अपनी ससुराल को जाती है 'छौंकी' में, वर पक्ष वाले उसके अपने यहाँ आगमन पर 'कंवळा' गाते हैं। और जब लड़का घोड़ी पर सवार होकर 'छौंकी' में विवाह से पूर्व अपनी ससुराल जाता है, तो उस समय ससुराल पक्षवाले, अर्थात् लड़के के घर वाले वर को पोखने हेतु 'टाळी रो' गाते हैं। ये गीत बड़े पुराने हैं। और पुराने रीति-रिवाज के अनुसार जैसलमेर, बीकानेर में तो आज भी पढ़े-सुने जा सकते हैं। राजस्थान के अन्य भागों के लिए कोई निश्चयात्मक बात नहीं कही जा सकती।

[2]इसी प्रकार बीकानेर के लोक गीतों में बनड़ा, विनायक, पीठी, हलदी, मैं दी, घोड़ीं, कामण, आंबो मोलियो आदि गीत बड़े उत्साह के साथ गाए जाते हैं।

वर को ( लड़के को ) विवाह के उपरान्त जब घर ले जाते हैं, तो उस समय बीकानेर में 'फलाण चंदजी ढ़ोलै जागो याजी तांणै रा ढ़ोल घुराय, केसरियो डाको जींव तो रैय—यह गीत गाया जाता है। और इधर लड़की की शादी है और लड़की को पसवाकी औरतें उसे अपनी ससुराल पहुँचाने को जाती हैं, तो 'कोयल ड़ी' गीत गाया करती हैं। यह 'कोयल ड़ी' का लोक-गीत जैसलमेर

1. राजस्थानी संगीत, पहला भाग—श्री सागरमल गोपा
2. राजस्थान के लोक गीत
   ठा० रामसिंह, सूर्यंकरण पारीक, नरोत्तम दास स्वामी,

को छोड़ कर, हमारे विचार से सारे राजस्थान प्रान्त में प्रचलित होना चाहिए।

'कोयल ड़ी सिधचाली' को सुनते समय पत्थर से पत्थर वाले हृदय में आँसू बह उठते हैं। ऐसी विरह और वेदना को लेकर यह लोक गीत है।

वैसे तो विवाह के गीत सारे राजस्थान भर में सुनने-पढ़ने को मिलते हैं। लेकिन यहाँ गीतों को लेकर कोई 'वँधेडा' नहीं है। वंधेडा से हमारा यह तात्पर्य है कि किसी विशेष अवसर पर वह विशेष गीत गाया जाए। माताओं और बहनों को जैसा भी कोई गीत याद आया, उसी के साथ उत्सव सम्पन्न कर लियां करती हैं। लेकिन जैसलमेर में वहाँ के समाज में ऐसा नहीं है। वहाँ का सामाजिक ढाँचा, आज आजादी के इतने वर्षों के वाद भी, अपने मूल और सही रूप में है। वहाँ का ढ़ाँचा चरमरा कर जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ है जैसा हम राजस्थान के हिस्सों में देखते हैं। कहीं-कहीं तो रेकॉर्ड आदि वजाकर विवाह का मांगलिक कार्य समाप्त कर लिया जाता है। लेकिन जैसलमेर के समाज में, पाठक देख सकेंगे, जिस अवसर पर जो गीत आज से सैकड़ों-हजारों वर्षों से गाया जाता रहा है, वह आज भी उसी प्रकार से परम्परागत रूप में अपनी चाल-ढाल और राग के साथ गाया जाता है।

## मेले के गीत—

हमारे यहाँ मेलों का वड़ा ही महत्व रहा है। इन मेलों का प्रचलन और इतिहास बड़ा ही पुराना है। इनकी महत्ता सर्वविदित और ख्याति पूर्ण रही है। केवल आपस में एक दूसरे का मिलना-मिलाना भेंट आदि ही मेलों का कार्य क्षेत्र रहा हो, ऐसा नहीं है। यहाँ मेलों में हाट-बाजार भी लगाकर तीर्थों और अपने दैनिक काम-काज की चीजें आदि लोग-वाग खरीदा-बेचा करते थे।

यह तो सभी जानते हैं—राजस्थान एक मरुस्थल भूमि है। अक्सर यहाँ वर्षा का अभाव-सा रहा है। आए वर्ष यहाँ अकाल पड़ते रहते हैं। और इन अकालों की समस्या राजस्थान वासियों के लिए आज ही रही हों, ऐसा नहीं है यह तो इनकी जानी-मानी, पहिचानी और चिरपरिचित समस्याओं में से एक समस्या है। अतः जब भी यहाँ वर्षा रहती है या रही है, वर्षा के मौसम में यहाँ ठाठ लग जाता है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि बहुत से मेले श्रावण और भाद्रवा के मास में ही होते हैं। मेले अक्सर तालाब के पास लगा करते हैं।

मेले के गीतों में [1](1) रिड़मक ( रणमक ), (2) मरवा, (3) रायो रो रंग, (4) मूमल, (5) फूल जड़ी, (6) मालण, (7) कवारी, (8) लोंगों केरो बंगलो, (9) सूंवटियो, (10) पणिहारी, (11) कसूवो, (12) नगर ठठो आदि के गीत जैसलमेर में मेले के अवसर पर गाए जाते हैं।

बीकानेर में मेले बहुत सीमित अवस्था में लगते हैं। यहाँ के मेलों में (1) भँवर वागों में आइ जोगी, [2](2) पणिहारी, (3) मूमल, (4) अव घर आवो ए, आदि गीत गाए जाते हैं।

'पणिहारी' का वड़ा ही प्रचलन रहा है। यह राजस्थान के प्रायः सभी नगरों, गाँवों और घर-घर में गाया जाता है। अतिरिक्त इसके, राजस्थान से बाहर, आसाम, बंगाल आदि में भी पणिहारी का गीत सुनने को मिलता है। अपने कथानक और राग के कारण 'पणिहारी' का गीत भारत भर में बहुत ही प्रिय रहा है।

गवर के गीत—

गणगोर या गवर, राजस्थान का वहुत ही वड़ा महत्वपूर्ण त्यौहार है। गणगोर को हमारे यहाँ कन्याओं के जीवन का आदर्श माना गया है। हर कन्या चाहती है कि उसे अपने विचारों के अनुरूप साथी मिले—वर मिले। और क्यों कि उपयुक्त पति की प्राप्ति के लिए गौरी ( पार्वती ) ने कठिन तपस्या की-तप किया। अतः उसीके आदर्श को लेकर हमारे यहाँ समूचे राजस्थान में गणगोर का पूजन घर-घर, गाँव-गाँव और नगर-नगर में होता है।

यह पूजन ( गणगोर का पूजन ) होली के जलने के ठीक दूसरे दिन से आरम्भ होता है और चैत्र शुक्ला चतुर्थी तक चलता ही रहता है। इस समय 'राजस्थान प्रदेश' गीतों से गूँज उठता है।

आज तो राजाओं का राज्य नहीं रहा। उस समय 'गवरजा माता' की सवारी के साथ राजा लोगों की सवारी निकला करती थी। किसी तालाब ( जलाशय ) आदि पर जाकर गवरजा को—गवर-माता को पानी पिलाया

---

1. राजस्थानी-संगीत, पहला-भाग—श्री सागरमल गोपा
   जैसलमेरीय संगीत रत्नाकर—श्री रघुनाथसिंह मेहता ( 1929 )

2. राजस्थान के लोक गीत० प्रथम भाग
   —डा० रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तम दास स्वामी पृ० 114

जाता। एक बहुत बड़ा मेला लगता'। और फिर वहाँ से ( तालाव आदि से ) मेला राज घराने तक आकर समाप्त हो जाता।

शीतला अष्टमी की संध्या से बच्चियाँ 'छुड़ला' घुमाया करती हैं। एक ऐसा मिट्टी का 'कुलड़ा' जिसमें चारों ओर छेद ही छेद रहते हैं। उसमें छोटा-सा मिट्टी का दीपक जलाकर बच्चियाँ मोहल्ले में, अपने पड़ोसियों के यहाँ और यत्र-तत्र उसे अपने सिर पर रखे, संध्या में 'घूड़लो घूमै छै जी घूमैं छै' का गीत गाती हुई घूमती हैं।

गनगोर का पूजन जहाँ बच्चियाँ करती हैं, साथ ही महिलाएँ भी करती हैं। यह पूजन विवाह के वाद भी चलता रहता है। अपने सुहाग की कामना में महिला-जगत में इस त्योहार का राजस्थान प्रदेश में बड़ा ही ऊँचा स्थान रहा है।

गवर के गीतों में 'खेलण दो गणगौर भवर म्हानै पूजण दो गणगोर' यह लोक-गीत बड़ा ही प्रचलित और लोकप्रिय रहा है। हमारा अपना यह निजी अनुभव है कि 'गवर' के लोक गीतों को लेकर यह एक ऐसा लोक-गीत है, जो समूचे राजस्थान में गाया जाता है।

[1]वैसे—(1) गवरल रूडो है नजारो तीखो नैणां रो, (2) गवर गिणगोर माता खोल किंवाड़ीरा, (3) वाड़ो-वाड़ी भँवरो भिणकै (4) ओ तो गहरो-गहरो विरमाजीरो छांवो वालम रसिया आदि आदि गीत गाए जाते हैं।

अतिरिक्त जैसलमेर के लोक-गीतों में [2](1) वाए गवरादे, अयवसौ, (2) आठ कपर री ई ठाणी, (3) भोकावो आदि 'गीत' बड़े ही सुन्दर, अपने ही ढंग के, वड़े ही प्राचीन, परम्परागत रहे हैं।

घुडले के गीत :—

घुडले के पीछे एक ऐतिहासिक कथा भी रही है। यह घटना सन् 1548 की है ( चैत्र कृष्णा, 1, वार शुक्रवार )। मारवाड़ के कोसाणा गाँव में वहुत-सी कन्याएँ तालाव पर गवर का पूजन कर रही थीं। उनमें से (140) कन्याओं को अजमेर का सूबेदार मल्लुखां ले भागा। मारवाड़ के नरेश को इस घटना की

1. राजस्थान के लोक-गीत—प्रथम-भाग
—डा० रामसिंह, सूर्यकरण पारीक, नरोत्तमदास स्वामी पृ० 39

2. राजस्थानी-संगीत—पहला-भाग—श्री सागरमल गोपा
जैसलमेरीय-संगीत रत्नाकर—पहला-भाग—श्री रघुनाथसिंह मेहता

जब खबर लगी, तो उन्होंने उसका पीछा किया। वे उन (140) कन्याओं को वापस लौटाकर तो ले ही आए। साथ ही सेनापति घुड़ले खाँ को, और उसकी सुन्दर कथा के साथ कई अमीर-उमरावो की औरतों को भी वे ले आए। इस युद्ध में घुड़ले खाँ रावजी के सेनापति, सारंगजी खींची द्वारा मारा गया। उसका सारा शरीर तीरों से छिद गया। खींची सरदार ने घुड़ले खां का तीरों से छिदा हुआ सिर काट डाला। उन्होंने वह कटा हुआ मुण्ड उन (140) कन्याओं को सौंपा। उस कटे हुए मुण्ड को लेकर कन्याओं ने सारे गाँव में घूमकर उस आततायी के अन्याय का प्रदर्शन किया। इसी घटना की यादगार में आज भी कन्याएँ घुड़ले के गीत गाती है।

घुड़ले के गीतों में [1](1) घुडलो घूमै छै जी घूमै छै (2) जालोड़ी जळ नीपजै रे बीरा (3) इंट तपै चकलो तपै और [2](1) ऊँची मेड़ी ऊजकी रे रुण-झुणियों के आदि बच्चियाँ आज भी बड़े ही प्रेम और उल्लास के साथ गाती हैं।

जैसलमेर में [3]'माट में माटोली घूमै, कोठी में जुवारा ए—घुड़ले का यह गीत बड़ा ही लोक-प्रिय और प्रसिद्ध है।

राजस्थान के दूसरे हिस्सों में जहाँ रात्रि में 'घुड़ला' निकालकर कन्याएँ उसे घुमाती फिरती हैं, जैसलमेर में दिन के समय भी बड़ी मटकी छिद्रों वाली को घुड़ले का प्रतीक मानकर औरतें और कन्याएँ सामूहिक रूप से घूमा करती हैं।

**वर्षा के गीत :—**

हमारा देश भारत-वर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। अतः यहाँ के निवासियों के लिए वर्षा का महत्व उनके जीवन-मरण का प्रश्न बना रहता है।

राजस्थान प्रदेश भारत का अभिन्न अंग है। यहाँ वर्षा बहुत ही न्यून मात्रा में होती है। यहाँ तक कि पश्चिमी-राजस्थान में तो वर्षा नहीं के बराबर होती है। आए दिन यहाँ अकाल ही देखने-सुनने को मिलते हैं। वर्षा की कमी को लेकर ही राजस्थान में यह कहावत प्रसिद्ध है—

---

1. राजस्थान के लोकगीत—प्रथम भाग पृ०/53
2. मारवाड़ के ग्राम गीत—श्री जगदीश सिंह गहलोत पृ०/188
3. 'धोरों रो देस'—हमारा निजी अप्रकाशित संग्रह

पग पूगळ, धड़ मैडते,
बाँह जो वाहडमेर।
आयोगयो बीकोणै,
हूँ ठावो जैसलमेर।

अर्थ स्पष्ट है—अकाल की कोप-दृष्टि मेड़ता, बाडमेर और बीकानेर पर रही है। और जैसलमेर में अकाल स्थाई रूप से माना जाता है।

अतः राजस्थान के लोग-बाग वर्षा की प्रतीक्षा में रहते हैं और यह स्वाभाविक भी है। खेती-बाड़ी तो इसके अभाव में नष्ट प्रायः हो ही जाती है, लोगों के जीवन निर्वाह हेतु, पीने का पानी तक यहाँ उपलब्ध नहीं रहता। यहाँ के लोग वर्षा को चाहें वह फिर कितनी ही अधिक मात्रा में क्यों न रहे, कितनी ही हानिकारक एवं कष्ट देने वाली क्यों न हो, फिर भी उसका यहाँ के लोग स्वागत ही किया करते हैं। इस कहावत से यह स्पष्ट है—

सौ सांडियां, सौ करहला,
पूत निपूती होय।
मेहड़ला बूढा भला,
जे दुखियारण होय॥

एक औरत कहती है—मेरे सौ ऊँट और सौ ऊँटनियाँ और सारी सन्तान भले ही नष्ट हो जाय, फिर भी वर्षा का बरसना ठीक है—चाहे मैं कितने ही कष्ट क्यों न पाऊँ।

पाठक सहज ही में यह सब जानकर अनुमान लगा सकते हैं—यहाँ राजस्थान में वर्षा का कैसा और कितना बड़ा महत्व रहा है और आज भी रहता आ रहा है। वर्षा-काल में जंगल की शोभा देखते ही बनती है। सभी पेड़-पौधे हरे-भरे लहलहाने लगते हैं। पशु-पक्षी इधर-उधर पेड़ों पर किलोल करने लगते हैं। चिड़ियाँ (पक्षी) अपनी चहक से वातावरण को गुञ्जायमान् कर देती है। किसान लोग खेतों में हल चलाने लगते हैं। हल को चलाते-चलाते मस्ती में झूम उठते हैं। कभी वे नाच उठते हैं, तो कभी मस्ती में गाने लगते हैं।

वर्षा के गीतों में तेजों, पणिहारी, भूमक, पपैइयो, क सूंबो, सावण री तीज, सावण तो आयो सइयां, मणिहारो, आयल, 'बरसाळो', अब घर आवो ए, गुळबन्द, बायरियो, आदि गीत बड़े ही चर्चित रहे हैं।

गाँवों में इन पंक्तियों के लेखकों ने अपनी-अपनी आँखों देखा है, जैसे ही श्रावण, भाद्रवा में आकाश में बादल उमड़-घुमड़ कर आते हैं, बिजली चमकने लगती है तो औरतें अपने घरों के बाहर झुण्ड बनाकर 'पणिहारी' का गीत गाने लगती हैं। अक्सर ऐसा भी देखा गया है कि इधर 'पणिहारी' का लोक-गीत प्रारम्भ हुआ कि उधर रिम-झिम, रिम-झिम वर्षा आरम्भ हुई। हमारे यहाँ गाँवों में आज भी यह विश्वास बल पकड़े हुए है कि पणिहारी का गीत गाने पर वर्षा आती है।

वर्षा की महत्ता इस पंक्ति से हम आँक समझ सकते हैं। 'गूधारी' 'गूगरी' गीत में पाठक देखेंगे—

[1]वीरो म्हारो सावणियै रो मेह,
कोई भादरवै रो मेह।
भो गाई आशा बीजलों जी म्हाराराज ॥२३॥

प्रकृति का यह एक अटल नियम-सा है, जिस वस्तु का अभाव होता है, या जो वस्तु बहुत सीमित और कम मात्रा में उपलब्ध होती है, उसकी कीमत, उसका मूल्य बहुत अधिक आँका जाता है। सोना, चाँदी, हीरे आदि बहुत ही कम, सीमित मात्रा में हमें मिलते हैं। अतिरिक्त इनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को बहुत बड़ी कसरत भी करनी पड़ती है। यही स्थिति राजस्थान में पानी को लेकर है। यहाँ पानी की बड़ी ही कमी रही है। अतः वर्षा का यहाँ बहुत बड़ा मूल्य है। वर्षा को लेकर यहाँ सैकड़ों प्रकार की कहावतें पढ़ने को मिलती हैं।

वर्षा सम्बन्धी कहावतें—

चमकी भळी न चैतरी,
बूठो भलौ न जेठ।
रूठो भलो न रांजवी,
खूटौ भळो न सेठ॥

[ चैत्र के महीनों में बिजली का चमकना ठीक नहीं। जेठ में वर्षा का होना ठीक नहीं। राजा का रूठ जाना और सेठ का दिवालिया बन जाना—ये सब ठीक नहीं ]

---

1. धारों वालो देस—श्री मुरलीधर व्यास, मोहनलाल पुरोहित
( निजी अप्रकाशित संग्रह )

आभा राता,
मेहमाता,

[ आकाश यदि लाल रंग का हो तो वर्षा बहुत हो ]

शुकरवार री बादळीं,
रही सनीचर छाय।
डंक कहै है मडळीं,
बरस्यां बिना न जाय ॥

[ बदली यदि शुक्रवार का शनिवार तक छाई रहे, तो वह बिना बरसे नहीं जाती ]

विगनस पवन सूरियौ बाजैं,
घड़ी पलक मांहै, मेहळो गाजै ॥

[ उत्तर पश्चिम में हवा चले, तो घड़ी दो-घड़ी में ही वर्षा होती है ]

तीतर पँखी बादळीं,
विधवा काजल रेख।
आ बरसै, वा घर करै,
या में मीन न मेख ॥

[ तीतर के पँखों के समान बादली हो, विधवा स्त्री के आँखों में काजल रेखा दिखाई दे, तो समझो कि पहले वाली तो बरसेगी और दूसरी अवश्य घर वास ( नया पति ) करेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता । ]

चेत चिड़ पड़ौ,
सावण निर भळौ ॥

[ यदि चैत्र-मास में छोटी-छोटी बूंदें गिरें, तो सावण में वर्षा बिल्कुल न हो । ]

आ साड़ै सुद नौमी,
धन-वादळ धन बीज।

[ आसाढ़ सुदिनवमी को बादल घन में रहे, बिजली खूब चमकती हो, तो कोठी खाली कर दो और अपने पास सिर्फ बोने के लिए ही बीज और हल चलाने को बैल रखो । ]

सासू जितरै सा सरो,
आसू जितरै मेह।

[ जब तक सास जीती रहती है, तब तक ससुराल का सुख है। इसी प्रकार आश्विन मास तक तो वर्षा होने की आशा रहती है। ]

**फाल्गुण के गीत—**

फाल्गुण के गीतों से हमारा तात्पर्य यहाँ होली पर गाए जाने वाले गीतों से है। होली का उत्सव हमारे यहाँ प्रमुख त्यौहारों में से एक प्रमुख त्यौहार है। कुछ लोगों ने त्यौहारों और पर्वों में भी वर्णाश्रम मर्यादा को सम्मिलित कर दिया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रावणी या रक्षा बन्धन का त्यौहार ब्राह्मणों का, विजयादशमी त्यौहार क्षत्रियों का, दीपावली का त्यौहार वैश्यों का और होली का त्यौहार शुद्रों का माना जाता है। हमारे विचार से होली के साथ कीचड़-कादा फेंकना, गाली-गलौज निकालना तथा हास-परिहास के साथ ओछी प्रकार की मनोवृत्तिको लेकर त्यौहार मनाने के इस तौर-तरीके पर शिष्ट समाज ने इसे ऐसा कुछ मान लिया है—यह शूद्रों का त्यौहार है।

वैसे यह एक रंग-सुरंगा त्यौहार है। सर्वसाधारण व सर्वमान्य लोगों को लेकर राजा-महाराजा तक इस त्यौहार को मानते रहे हैं। भले ही आज का सभ्य कहलाने वाला तथाकथित सभ्य व्यक्ति इसे विकृतियों से भरा हुआ, इसका भद्दा चित्र समझकर उपेक्षा कर सकता है। सच तो यह है कि जन-मानस का इस त्यौहार के प्रति बड़ा ही आदर रहा है। वसन्त उत्सव के इस त्यौहार की लोग-बाग बड़ी प्रतीक्षा में रहते हैं।

होली के इस त्यौहार की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इसमें सब लोगों का समान रूप से मनोरंजन होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि किसी में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहता। छोटे-बड़े, वृद्ध-युवा, नर-नारी सभी लोग आनन्द से इसे बिना किसी भेद-भाव के, हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं।

राजस्थान में होली पर लोग गाँव-गाँव और नगर-नगर में 'चँग' लिए मस्ती में झूमते, गाते-नाचते दिखाई देते हैं। चँग पर भगवान कृष्ण और राधिका के प्रेम के गीत भी गाए जाते हैं। कई प्रकार की 'धमाकें' गाई जाती हैं। और कई प्रकार के विनोद के गीत भी चँग पर गाए जाते हैं।

होली के त्यौहार की एक सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि इस समय-गाँव के लोगों को अपने काम-धँधे से राहत, फुर्सत मिली रहती है।

हमारा देश कृषि प्रधान देश रहा है। गेहूँ, चने आदि की फसल से गांव का व्यक्ति निपट लेता है। अतः ऋतु, समय और फसल की दृष्टि से होली का अवसर किसान के लिए सबसे अधिक आनन्द दायक होता है। सर्दी बीत चुकी होती है। किसानों की फसल तैयार हो चुकी होती है, मनुष्य के मन में मस्ती का संचार होने लगता है। इसलिए होली का त्यौहार मस्ती का त्यौहार कहलाता है।

हमारे यहाँ होली के अवसर पर 'घूमर' पड़ा करती है। 'घूमर' राजस्थान के एक प्राचीनतम नृत्यों में से है। नगाड़े के चारो ओर वृत्ताकार रूप में औरतें नाचती हैं और साथ-ही-साथ गाती भी जाती हैं। ताल-लय का बड़ा ध्यान रखा जाता है। ठेका विशेषतया 'दादरे' का होता है।

राजस्थान में 'घूमर' का यह लोकगीत बड़ा ही प्रचलित है—

[1]मनै थे खींचीडै मति परनाए म्हारी माय,
घूमर घरकण म्हे आसां ॥१॥
मनै खींचीडो खीच खोडावै म्हारी माय,
घूमर······॥२॥
मनै देवड़ा नै मति परणाए म्हारी माय,
घूमर······॥३॥
मनै देवड़ा जेवड़ा बटावै म्हारी माय,
घूमर······॥४॥
मनै थे भारी डैनै मति परनाए म्हारी माय,
घूमर······॥५॥
मनै भाटीडो भाठो फोडावै म्हारी माय,
घूमर······॥६॥
मनै थे राथोड़ां नै भल परनाए म्हारी माय,
घूमर······॥७॥
मनै राठोडा राज करावै म्हारी माय,
घूमर घालण म्हे आसां ॥८॥

'घूमर' को लेकर जैसलमेर की घूमरें बड़ी पुरानी रही हैं। वहाँ आज भी परम्परागत रूप से घूमरें देखने को मिलती हैं।

---

1. घोराआला देश—हमारा अप्रकाशित संग्रह पृ० 6

जैसलमेर के घूमरों की अपनी निजी विशेषता रही है। एक बहुत बड़े नगाड़े के चारों ओर सात या नौ औरतें इस प्रकार से रहती हैं कि सबसे लम्बी औरत सबसे आगे और फिर क्रमशः दूसरी औरतें उसके पीछे रहती हैं। नाचते समय रमणियाँ गीत भी गाती हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह देखी गई है कि सब के पैर और हाथ एक ही साथ आगे-पीछे ढोल की ताल के साथ चलते रहते हैं। किसी भी प्रकार की शिथिलता लय और ताल में नहीं आने पाती।

घूमर का 'नगाड़ची' (ढोल बजाने वाला व्यक्ति) उन्हीं खानदान, परिवार के व्यक्तियों में से होता है, जिनके घर की रमणियाँ घूमर में नृत्य करने को होती हैं। स्मरण रहे—यहाँ इस प्रकार की घूमर में बहुएँ ही नाचा करती हैं—उस परिवार की बहन-बेटियाँ 'घूमर' में नाच नहीं सकती।

घूमर जब भी जहाँ पड़ती हैं, उस स्थान पर बड़ा कड़ा पहरा रहता है। दूसरी जाति के लोग-बाग वहाँ उसे देखने को नहीं आ सकते। केवल वही लोग देखने के अधिकारी होते हैं, जो उस मोहल्ले विशेष के हों या फिर उस परिवार के लोग हों।

जहाँ घूमर में कोई रमणी नृत्य करती हो, वहाँ उसका भाई अपनी बहन को नाचती हुई नहीं देखने आता।

घूमर के लिए कई महीनों तक औरतें गीतों को गाने की एवं नाचने की तैयारी करती रहती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विशुद्ध रूप में 'घूमर' जैसलमेर को छोड़कर अन्य किसी भी प्रान्त में पढ़ने, सुनने एवं देखने को विरल ही मिल सकती है।

[1]जैसलमेर की घूमरों में कठडो, ओ ठीडो, नींबूडो, ओडणी, बिछियो, जियामोंजी, घूमर आवे घूमती आदि गीत बड़े ही रोचक एवं प्रसिद्ध रहे हैं।

जब औरतें नाचती हुई और गाती हुई थक जाती हैं, तो युवा-पुरुष डाँडिया लेकर नगाड़े के चारो ओर गाते हुए नाचा करते हैं। इसे हमारे यहाँ 'डाँडिया नृत' कहते हैं।

घूमर की तरह 'लूर-नृत' है। यह नृत अक्सर राजपूत औरतें ही करती हैं।

---

1. घूमर—मोहनलाल पुरोहित, श्री मुरलीधर व्यास

'झूमरियो' भी एक प्रकार की घूमर है। यह बालिकाओं द्वारा हुआ करता है। शेखावाटी में डाडियाँ नृत का एक दूसरा रूप हैं, जिसे 'गींदड़' कहते हैं।

**लोक नाट्य :—**

लोक-नाट्य को 'रम्मतें' कहते हैं। ये फागुन के महीने में ही हुआ करती है।

रात्रि के समय मोहल्ले में एक खुले स्थान पर लोग-बाग इकट्ठे हो जाते हैं। एक गोलाकार, 'वृत्ताकार' के रूप में लोग बैठते हैं। इसे रम्म का 'कूँडा' कहते हैं। इसमें भाग लेने वालों को खेलार कहते हैं।

जब किसी 'चरित्र नायक' के जीवन को लेकर पूरा नाट्य होता है, तो उसे 'रम्मत' कहते हैं। जैसे 'भरतरी री रम्मत', 'अमरसिंह री रम्मत', 'सती-सावित्री री रम्मत' आदि। और जब 'चरित्र नायक' के जीवन का कोई एक अंश लेकर खेल रूप में खेला जाता है, उसे ख्याल कहते हैं। जैसे— ख्याल 'मूमल मेहदरे रो', 'ख्याल-सुलतान रो' आदि-आदि।

रम्मतों में भाग लेने वाले सभी पुरुष ही होते हैं। यहाँ स्त्री का 'पार्ट' भी जहाँ अदा करना होता है, वहाँ पुरुष स्त्री के कपड़े पहन कर अदा कर लेता है।

रम्मतें पूरी रात भर चलती रहती है। नाटकों की तरह ये दो या तीन घण्टों तक में समाप्त नहीं हो जाती। नाटकों की तरह इनमें 'दर्शकों' से रम्मत देखने रूप में कोई फीस आदि नहीं रहती। रम्मत करने वाला व्यक्ति कपड़े, सामान आदि अपने-अपने ढंग से माँग-मूँगकर रम्मत का आयोजन कर लेते हैं।

'रम्मतों' में नायक अपनी ओर से एक 'दूहा' देता है और बाद में कुछ व्यक्तियों का झुण्ड जो समीप ही में बैठा रहता है, उस 'टेर' को बड़े जोरों से गाता है। इसे 'टेरिया' कहते हैं।

रम्मतें 'पद्य' 'गीतमय' होती हैं। गद्य का रम्मतों में कोई स्थान नहीं रहता।

अपनी स्थानीय विशेषताओं के कारण रम्मतें राजस्थान में आज भी लोक-प्रिय हैं। गाँवों में और किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधन नहीं रहे। अतः आज भी वहाँ यह सब इसी रूप में देखी जा सकती है।

'ख्यालों' की एक प्रथा रही है। हर वर्ष नए-नए ढंग से ख्याल बनाकर गाए जाते हैं। कभी-कभी सामाजिक कुरीतियाँ, राजनीतिक विषमताओं और

धार्मिक विचार धाराओं को लेकर भी ख्याल बनाए जाते हैं। शेखावाटी में विशेष प्रकार के ख्यालों का प्रचार है; परन्तु वे प्रायः पेशेवर मंडलियों के द्वारा गाए गये हैं। यही कारण है कि उनकी 'गायकी' साधारणतया सरस न होकर कुछ ऊँचे दर्जे की होती है। इसी प्रकार राजस्थान के अन्य भागों में भी 'भाचा', 'तुर्रा कलंगी' आदि लोक नाट्यों का प्रचार है।

लोक-देवता :—

हमारा देश धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ की सभी समस्याएँ, चाहे वे राजनीतिक रही हों, सांस्कृतिक रही हों, या फिर आर्थिक रही हों—ये हमारी सभी समस्याएँ धर्म की कसौटी पर कसी जाती रहीं हैं। निसन्देह आज आधुनिक युग का प्रभाव नगरों पर अवश्य है लेकिन हमारे गाँव इस प्रभाव से अभी भी अछूते-से हैं। गाँवों में आज भी पूजा-पाठ धार्मिक जीवन का प्राधान्य आसानी से देखा-समझा जा सकता है। अतः देवी-देवताओं को लेकर हमारे यहाँ जनसाधारण का बड़ा विश्वास रहा है। और यह विश्वास बहुत ही प्राचीन काल से चला आ रहा है।

वेदों में जहाँ हमें सूर्यो देवता, चन्द्रो देवता, वायु देवता आदि पढ़ने को मिलते हैं। उसी प्रकार पुराणों में ब्रह्मणा, विष्णु, महेश आदि नाना प्रकार के देवताओ के नाम पढ़ने-सुनने को मिलते हैं। ये वेदों के देवता, वैदिक देवता और पुराणों के देवता पौराणिक देवता कहलाते हैं।

लेकिन इनके अतिरिक्त 'लोक-देवता' भी रहे हैं। जन-साधारण का अपना-अपना विश्वास और अपनी-अपनी मान्यताएँ रही हैं। और इस प्रकार हम देखते हैं कि नगर-नगर में और गाँव-गाँव में सैकड़ों प्रकार के लोक-देवता हैं।

यहाँ लोक-देवताओं में और पौराणिक देवताओं में थोड़ा-सा भेद समझ लेना समीचीन रहेगा। वैदिक या पौराणिक देवताओं को, जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि को बलि नहीं दी जाती ; साथ ही ये यदि किसी पर प्रसन्न हों, प्रथम तो देवता किसी से नाराज ही नहीं होते। उनका राजी होना या प्रसन्न होना क्या कुछ अर्थ रखता है। फिर भी यदि वे किसी पर अपनी नाराजगी भी जाहिर करें, तो किसी के सिर पर आने की ( उसके घर में आकर बोलने ) बात नहीं रहती। राम, कृष्ण, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि कभी किसी के सिर पर आकर बोलते हुए नहीं सुने गए।

लेकिन लोक-देवताओं की अपनी विशेषता रही है। ये अपने भक्तों पर अपनी प्रसन्नता भी जाहिर करते हैं और नाराजगी भी। इन्हें वलि ( भैंसा बकरा आदि मारकर चढ़ाना ) चढ़ाया जाता है। साथ ही ये लोक-देवता किसी व्यक्ति के सिर पर आकर ( घर में आकर ) वोलते भी हैं।

वैसे लोक-देवताओं की संख्या वहुत लम्वी-चौड़ी है। फिर भी इनमें ये लोक-देवता राजस्थान प्रदेश में बड़े प्रसिद्ध, चमत्कारिक और सिद्धि देने वाले रहे हैं। यथा—

(1) भैरूजी (2) खेतर पाल (3) पितरजी (4) झूँझारजी (5) भोमियोजी (6) सतीमाता (7) करण माता ( वीकानेर ) (8) नीडीयांजी ( देश लोक वीकानेर ) (9) रिपाल देवी ( फलौवी ) (10) आई नाथ (जैसलमेर) (11) तेमड़े री राय ( जैसलमेर ) (12) भूरे भाखर री राय ( जैसलमेर ) (13) काले पाड़ री राय (14) शीतला माता (15) भूवाजी (16) भटियाँणी जी (17) उदलदे माता ( भोपताली थरज जैसलमेर ) (18) नगणियो जी (19) भादरीये री राय (20) आसापुरा ( विस्सों को देवी-पो करण ) (21) हीग लाडा देवी (22) खेज डियैण राय (23) भातोमा (24) विरमों-दादो आदि-आदि।

संसार में प्रायः सभी प्राथमिक धर्मों में देवी-देवताओं का 'सिर पर आना' ( भाव में, घर में आना ) की वात देखी जाती है। राजस्थान में लोक-देवता जिस व्यक्ति के सिर आकर वोलता है, उसे 'भोपा' ( मर्द है तो ) और 'भोपी' ( यदि स्त्री है तो ) कहते हैं। घर में 'भाव' आने पर 'भोपा' जिस लोक विशेष देवता से संबंधित रहता है, उसके 'पड़वाड़े' ( गुणगान ) गाने लगता है। लोग वाग, यदि कोई वीमार है, तो उससे छुटकारा पाने की बात पूछते हैं। और यदि किसी को भूत-प्रेत का भय हो, तो उसका छुटकारा आदि पूछा करते हैं। 'भोपा' उन्हें उत्तर देता है। और जनसाधारण इस विश्वास से यह सब मानकर कि अमुक देवता वोल रहा है—इसे सत्य मानकर चलते हैं।

कभी-कभी घर का कोई मृत व्यक्ति भी किसी घर वाले के सिर पर वोल उठता है। जिसे परिवार के लोग 'पिताजी' की संज्ञा देते हैं।

लोक-देवताओं के इस प्रकार के आयोजन प्रायः रात्रि में ही हुआ करते हैं। एक 'भोप' विशेष को आमंत्रित किया जाता है। और फिर रात्रि में जिस स्थान पर यह आयोजन होता हैं उसे 'जागर' कहते हैं। 'जागर', 'जागरण'

'रात्रिजोगो' आदि हमारे ख्याल से एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप होने चाहिए जो अलग-अलग अर्थों में रूढ़ हो गए हैं।

भोपे के सामने ढोल रखा जाता है। धूपिया रखा जाता है। वह अपने साथ एक बड़ी-सी लंबी लाठी, जिस पर चाँदी के 'छत्र' लगे रहते हैं, लाता है। उसे 'छड़ी' कहते हैं। उस छड़ी की वह ( भोपा ) पूजा करता है। और फिर जब भाव आदि समाप्त हो जाता है, तो उस समय अफीम घोलकर या मिश्री घोलकर भोपे को पिलाते हैं। इसे 'छाक' कहते हैं।

जब सारा आयोजन सुख-शान्ति पूर्वक समाप्त हो जाता है और लोक-देवता अपने गन्तव्य-स्थान को जाने को होते हैं, तो भोपे के सिर पर पानी के छींटे किसी बच्ची द्वारा धीरे-धीरे गिराई जाती है, जिसे 'छाँट वर सावों' कहते हैं। और तत्पश्चात् भोपा अपनी पूर्वांगत स्थिति में आ जाता है।

लोक देवताओं के पूजन का प्रसाद वहीं उनके स्थान पर बैठकर खाया जाता है। उसे घर पर नहीं लाया जाता।

भोपे अक्सर भील, माली, चमार, दर्जी, चारण, आदि जाति के लोग होते हैं। लेकिन जैसलमेर में एक बड़ी संख्या में ब्राह्मण जाति में कई भोपे हैं।

### लोक प्रतिष्ठित वीर—

हमारे यहाँ मनुष्य की पूजा न होकर उसके गुणों की पूजा होती रही है। अतः हम भारतवासी व्यक्ति विशेष के प्रशंसक न होकर उसके गुणों, उस आदर्शों की प्रशंसा करते रहे हैं। प्रशंसा कही-कहीं, जनसाधारण के लिए उनके गुण प्रेरणा दायक, पथ प्रदर्शक के रूप में रहे हैं। उन वीरों का कर्त्तव्यपालन, प्रतिज्ञापालन, आत्मत्याग, उदारता, सत्य परायणता, स्वामी भक्ति और वीरता-धीरता आज उन्हें देवत्व के पद पर आसीन किए हुए हैं।

भारतवर्ष में अवतारवाद की भावना बड़ी प्रबल और प्राचीन रही है। भारतीय मनीषियों ने सृष्टि के क्रमिक विकास को अवतारवाद के द्वारा ही स्पष्ट किया है। मत्स्यावतार से लेकर बुद्धावतार तक हम सृष्टि के निरन्तर विकास को भली-भाँति समझ सकते हैं। हमारा यह भारतीय चिन्तन है कि समस्त ब्रह्माण्ड में ईश्वर व्याप्त है, उसके निर्देश से यह चराचर संचालित होता है और वही अनेक रूपों में इस पृथ्वी पर अवतार लेता है।

और यह सर्वमान्य भी है—अवतार का होना एक प्रकार से मंगल-भावना का उदय होना है। अवतरित व्यक्ति सत्कर्म करने के लिए आता है। वह

संसार में सुख-शान्ति, कर्त्तव्य पालन, आदि नाना प्रकार के आदर्शों का प्रतिमान बन कर हमें इस सब का सन्देश देने आता है।

राजस्थान वीर वसुँधरा रही है। यहाँ 'पँच पीरों' के नाम प्रायः हमारे समाज में बड़े ही आदर के साथ लिए जाते हैं। रात्रि जागरण के समय भी इन 'पँच पीरों' के गीत आदर के साथ गाए जाते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन पाँचों पीरों का मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये 'पाँचों पीर' वीर हिन्दू कुल के सम्बर्द्धक रहे हैं। हमें ऐसा लगता है कि 'पीर' शब्द ( वीर की जगह ) केवल मुसलमान सभ्यता की सहचारिता के कारण उनके जुझार एवं सिद्ध पुरुष होने से जुड़ गया है। आज हम अपने बड़े अफसर को 'साहब' कहते हैं। वास्तव में वह साहब न होकर एक भारतीय है। लेकिन अंग्रेजी शासन में जैसा 'साहब' बड़े अफसर के लिए प्रचलित हो गया, ठीक वैसे ही मुसलमानी-युग में सिद्ध पुरुष अर्थात् करामाती पुरुष के लिए 'पीर' शब्द अपनी प्रसिद्धि पर रहा नीचे का पद्यांश इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर सके—

पाबू, हर भू, रामदे,
मांगलिया मेहा,
पाँचों पीर पधार ज्यो।
गोगाजी जेहा,

इनके संबंध में राजस्थान में अनेक गीत तथा काव्य प्रचलित है।

## लोरियाँ—

राजस्थानी लोक-साहित्य में लोरियों का बड़ा ही महत्व रहा है। ये लोरियाँ कितनी मधुर और कितनी सरस होती है, यह सारा-का-सारा इन्हें सुनते ही बनता है।

माँ को घर का काम-धँधा करना होता है और उस समय, उसी बीच उसका बच्चा, नयनों का तारा जाग खड़ा होता है और चिल्ला-चिल्ला कर जोर-जोर से रोने लगता है। एक माँ नहीं चाहती, उसका बच्चा कष्ट पाए, रोए-चीखे-चिल्लाए। और इधर ग्रहस्थी का काम भी तो छोड़ा नहीं जा सकता। वह उसे अपने मधुर, रसीले अमृत-वचनों द्वारा थपथपाती हुई सुलाने का प्रयास करती है। जिस प्रेम-भरी, स्वर्गीय-भाषा में वह गुन-गुनाती हैं और जिन अटपटे बोल एवं शब्दों के साथ गा-कर प्रसन्न-वन्दना अपने बच्चे को सुलाने का प्रयास करती है—उसे हम 'लोरी' कहते हैं।

लोरियों को राजस्थानी-भाषा में 'टीलों' भी कहते हैं।

लोरियों के विषय में [1]श्री देवेन्द्र सत्यार्थी लिखते हैं—

'आंन्ध्र-देश में लोरी का पर्यायवाची 'जौल-पाटा' है। आसामी भाषा में लोरी का पर्यायवाची शब्द 'आई नाम' है। गुजरात में लोरियों को 'होलटड़ा' कहते हैं। उड़िया भाषा में लोरियों को 'बिल्ला-खेल्ला' के गीत कहते हैं।'

लोरियों को अंग्रेजी साहित्य में 'Cradde-songs' ( पालने के गीत ) अथवा Luliaby ( बच्चों को सुलाने के गीत भी कहते हैं।

यहाँ हम कुछ [2]लोरियाँ पाठकों के रसा-स्वादार्थ अपने अप्रकाशित संग्रह में से प्रस्तुत कर रहे हैं। ये लोरियाँ हमें जैसलमेर से 'शोध' करने पर प्राप्त हो सकी हैं।

( १ )

हीळो हालो करै रे सूआ,
आडणियां टोपलिया लायै रै भूआ।
भूआ रै भरोसै भतीजो सींआई ठरै,
एडा आळस भूआ क्यों ई करै।

( २ )

आयै रो गुड़ खायै रो,
नानोजी देसै मायरो।
दादैजी नै लगसै सायरो,
पुन्नरंग पाग बँधायै रो।

( ३ )

होरे हो……
तानै मांमै भारीगो,
गो कागळा ले गया।
ताजी मांमी ऊभी अभी जो,

1. वेला-फूले आधी रात—
लोरियां पृ॰ 241

2. राजस्थानी बाल लोक-गीत व लोरियां
—मोहनलाल पुरोहित, श्री मुरलीधर व्यास निजी संग्रह

( ४ )

सुरेसनै रमावै एक घड़ी,
वैनै देवां सोनै रो घडी।
सुरेस नै रमावै एक पौर,
जनै देवां अकबर री मौर।

( ५ )

हीळो हाळो दौड़ रे कुत्ता,
वांणियै री हट्टनै फाड़ रे कुत्ता।
बांणियो बूढ़ो डोकरो,
मन सै नै दै खंड-खोपरो।

( ६ )

आरे मनोजियां, कर बातां,
ऊनी-ऊनी खिचड़ी में घी घातां।

( ७ )

पगलै पा……
सेर घी खा……

**अर्थ स्पष्ट है—**

संख्या पहली की लोरी में सामाजिक चित्र है। एक मां अपने बच्चे को लोरी दे रही है। उसकी ननद अपने भतीजे के जन्मोत्सव पर कपड़े नहीं लाई है। उसे कपड़े लाने चाहिए थे। भला ऐसी गलती और भूल एक भूवा अपने भतीजे के जन्म-काल पर कैसे कर गई!

संख्या दो की लोरी—यह भी हमारी रीति-रश्मों को लेकर है। हमारे यहाँ बच्ची का विवाह आदि होने पर 'मायरों' आदि का प्रचलन ननिहाल वालों की तरफ से रहता है। इस प्रकार के प्रचलन से ( क्योंकि कपड़े आदि सामान बड़ी मात्रा में मायरे में रहते हैं ), विवाह सम्पादन में बड़ी सहायता मिलती है।

संख्या तीन की लोरी हास्य-व्यंग्य को लेकर है। बच्चे के मामे ने एक गो को मार दी। उस गो को एक कौआ ले उड़ा। बच्चे की मामी उसे देखती ही रही। एक तो 'हिंसा' जैसा पाप भी किया और फिर पल्ले भी कुछ नहीं पड़ा।

संख्या चार की लोरी समाज में बच्चे के जन्म के महत्त्व को लेकर है। उसे रिझाने और प्रसन्न करने वाले को पुरस्कारों से लाद दिया जाता था। बच्चे का जन्म उस समय कितना शुभ और महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।

संख्या पाँच की लोरी पूँजीवादी बनिए की कंजूस प्रवृति के प्रति घृणा का द्योतक है। ऐसे बनिए कों कुत्ता काट खाए तो अच्छा।

संख्या छः में एक मां अपने बच्चे को लोरी दे रही है और वह यह कामना कर रही है कि बच्चा उससे बातें करे। वह उसे ( मां ) गर्म-गर्म खिचड़ी में घी डालकर परोसे-खिलाए।

और संख्या सात में, जब बच्चा जरा पैरों के बल चलना आरम्भ करता है, तो माता उसे ठीक प्रकार से चलने के साथ ढेर-सा घी खिलाने की बात कहती है।

हमारी इन कतिपय लोरियों से पाठक सहज ही में अनुमान लगा सकेंगे, राजस्थानी लोरियाँ कितनी विशाल संस्कृति को अपने में समेटी हुई हैं।

विश्व के लोक-साहित्य में लोरियों का अपना विशेष स्थान रहा है। सभी जातियों के नारी-समाज में हमें माताओं द्वारा लोरियाँ पढ़ने को एवं सुनने को मिलती हैं। सभ्य किंवा असभ्य कही जाने वाली सभी जातियों की माताएँ अपने-अपने शिशुओं को वात्सल्य रस से ओत-प्रोत, मीठी-मीठी लोरियाँ सुनाती हैं।

लोरियाँ केवल बच्चों के मनोरंजनार्थ ही नहीं कही जातीं, जैसा कि कुछ विद्वानों की धारणा इस पक्ष को लेकर रही है। लोरी के विषय में राजस्थानी का यह दोहा इस तथ्य को ठीक प्रकार से स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होगा—

इला न देणी आपणी,
हालरियो हुलराय।
पूत सिखावै पालणै,
मरण बड़ाई माय।

निसन्देह लोरी-साहित्य अपने-आप में एक बड़ी आवश्यक सामग्री लिए हुए है। श्री मुरलीधर जी व्यास आदि लोक-साहित्य के विद्वानों ने इस दिशा में कार्य भी किया है। फिर भी यह कार्य बहुत ही सीमित अंश में रहा है। इस ओर विद्वान् कलाकारों का ध्यान अपेक्षित है।

**पहेली—**

पहेलियों को हमारे यहाँ 'आडियाँ' भी कहते हैं। पहेलियाँ केवल आनन्द, मनोरंजन या मौज के लिए ही नहीं, अपितु इससे एक मनुष्य विशेष के बौद्धिक स्तर का अन्दाजा भी सहज में लगता है। कई ऐसी लोक कथाएँ हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि 'पहेली' के सुझाने पर, उसका ठीक प्रकार से सही अर्थ बताने पर अमुक राज कुमारी अपनी शादी उस व्यक्ति विशेष से करेगी।

राजस्थान में हमारे यहाँ आज भी गाँवों में जब दामाद अपनी ससुराल जाता है तो सालियाँ आदि उससे हँसी-मजाक करती हुई 'पहेलियाँ'—आडियाँ पूछा करती हैं। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ नमूने के तौर पर ही एक-दो 'आडियाँ'—पहेलियाँ देकर संतोष कर लेगें—

यथा—

आटे जिसी गिलगिळी,
पतासे जिसी मीठी।
इये आडीरों अरथ करै,
बैंणे सवा लाख री बीटी।

—अर्थ ; किसमिस

छोटी सी कछड़ी,
मोत्यां जड़ी।
राजाजी रै बाग में,
दुशाळो ओढ़ खड़ी।

—अर्थ मक्की का भुट्टा

छोटी-सीम कीमली,
राजा भेळी जीमली

—अर्थ मक्खी

छोटो म दुरगादास,
कपड़ा पेहरै सौ पचास

—अर्थ प्याज

**हींयाळी—**

इसी प्रकार 'हियाळी-साहित्य' भी हमारे यहाँ विपुल मात्रा में है। हियाळियों में पहेलियाँ', आडियाँ होती हैं। यह गेय हैं—इसे गाया जाता है।

'हीयाळी' आज केवल राजस्थान के प्राचीन गौरवमय नगर जैसलमेर में ही गाई जाती है। जिस समय दामाद ससुराल में भोजन के निमित्त आता है, साकियाँ इत्यादि औरतें झुण्ड में वैठकर हींयाळी गाती है। जब तक इस एक हींयाळी का अर्थ दामाद द्वारा नहीं बताया जाता, वे दूसरा गीत, आगे की दूसरी 'हींयाळी' नहीं गाती। और दामाद भी जब तक इसका अर्थ नहीं बतला देता, भोजन नहीं करता। यथा—

( १ )

कोढ़ै रे बैठी पदमणी रे,
ओ तो गिण-गिण फेकैं दाव म्होरा राज।
चतर होवै सो समझ ले रे,
म्हारै मूरख गोता खाय म्हाराज।
म्हारी रे हींयाली रो अर्थ करो,
जेथां नै अर्थ न ऊपजै रे।
थांरै मामैजी नै तेडावो म्हाराज,
राज री हींयाळी रो अर्थ करो।
—अर्थ, रोटी

( २ )

आठ कूवा रे नव बावड़ी रे,
वो तो दीसै समद तळाव म्हारो राज।
हाथी घोड़ा सैय डूब ग्या,
पणिहारण खाली जा म्हारो राज,
म्हारी रे हींयाली रो अर्थ करो।
जे थांनै अर्थ न ऊपजै रे,
थांरै काकैजी नै तेज वो म्हारो राज,
राज रो हींयाली रो अर्थ करो।
—अर्थ :—काँच

गूढ़ार्थ को लेकर 'घेसले' आदि भी बड़े ही रोचक और मनभावने रहे हैं। खेद है इन सब पर कभी पृथक से ही प्रकाश डाला जायगा।

# लोक-गाथा

अंग्रेजी में जिसे 'Ballad' कहते हैं, उसी को हमारे देश में प्रायः विद्वान् 'लोक-गाथा' की संज्ञा देते हैं। राजस्थानी लोक-गाथाएँ भी अपने ढंग की निराली तथा अनूठी हैं। उनके सम्बन्ध में काफी काम हो चुका है; फिर भी यहाँ उनकी साधारण जानकारी देना उचित प्रतीत होता है।

संभवतः 'ढ़ोला मारू रा दूहा' राजस्थान की सबसे अधिक पुरानी लोक-गाथा है। इसमें नरवल के राजकुमार ढ़ोला और पुगल की राजकुमारी के संबन्ध में वड़ी संख्या में दोहे प्राप्त हैं। वैसे राजस्थान में 'दोहामयी' प्रेम कथाओं की पुरानी परम्परा रही है। इसी परम्परा में 'मेह ऊजळी' सम्बन्धी प्रेम कथा हैं, जिसको 'जेठवेरा दूहा' भी कहा जाता है। अन्य कई प्रेम-कथाएँ भी हैं, जिनके-दोहों की संख्या अधिक नहीं है। ये प्रेम कथाएँ एक प्रकार से शृंगार-रसात्मक साहित्य-सामग्री है।

ऊपर पंचपीरों में पावूजी रा ठोड़ का नाम आया है। राजस्थान में पावूजी के [1]'परवाड़े' विशेष रूप से 'फड़' ( पट्ट ) प्रदर्शित करते हुए भोंपा-भोपी के द्वारा गाए जाते हैं। गाँवों में यह आयोजन बड़े उत्साह के साथ सम्पन्न किया जाता है। पावूजी के समान ही, रामदेवजी, गोगाजी आदि से संबंधित लोक गाथाएँ भी वड़े चाव और भक्ति के साथ यथा समय गाई जाती हैं।

[2]'निहालदे सुलतान' भी राजस्थान की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण लोक गाथा है। इसमें सत्यव्रती राजकुमार सुलतान और उसकी परिणीता पत्नी निहालदे की कहानी है। कहावत है कि निहालदे छोटी-सी थी। परन्तु जोगी लोगों ने उसे अपनी सारंगी की गज़ से बढ़ाकर काफी बड़ा बना लिया। यह लोक-गाथा भी पेशेवर गायकों के द्वारा गाई जाती है और कई दिनों तक इसका गायन होता रहता है।

राजस्थान की बगड़ावत नामक लोक-गाथा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसको श्रीमती लक्ष्मी कुमारी चूड़ावत ने सम्पादित करके वड़े सुन्दर रूप में

1. पावूजी के परवाड़ो पर डॉ० ब्रजलालसिंह ने शोध प्रवन्ध लिखा है।
2. निहालदे की कथा डा० कन्यैलालजी सहल ने विस्तार से लिखी है। इसी सम्बन्ध में श्रीमान् लक्ष्मीनिवासजी विड़ला का अंग्रेजी ग्रंथ भी वड़ा महत्वपूर्ण है।

प्रकाशित किया है। यह प्रधानतया गूजर जाति से सम्बन्धित है। गूजर लोगों का प्रमुख पेशा पशु पालन है। वे देवनारायण के परम भक्त हैं। उनके समाज में बगड़ावत-काव्य विशेष आयोजन के साथ गाया जाता है। उसमें बगड़ावत और जैमती की कहानी विस्तार के साथ गाई जाती है। कहावत प्रसिद्ध है—

माया माणी बगड़ावतां,
लाखो फूलाणी।
रही सहीनै माण गौ,
हर गोविन्द नाटाणी।

इस क्रम में राजस्थान की एक अन्य महत्वपूर्ण लोक-गाथा 'लोक महाभारत' है। इसके सम्वन्ध में डा० सुशीला गुप्ता ने अपना शोध प्रवन्ध प्रस्तुत किया है। उस लोक-गाथा में महाभारत की कथा विविध लौकिक उद्‌भावनाओं के साथ लोक गायकों के द्वारा गायी जाती है, जो बड़ी रोचक प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार ऊपर कुछेक राजस्थानी लोक गाथाओं की ओर संकेत किया गया है, जो आकार में कुछ वड़ी-सी हैं। परन्तु ये प्रायः लोक गायकों के द्वारा गाई जाती हैं।

## झीडे

राजस्थान में कई ऐसी लोक-गाथाएँ भी गाई जाती हैं, जो आकार में अधिक बड़ी नहीं है, परन्तु सामान्य लोक गीतों से काफी बड़ी हैं। वे किसी रूप में कथात्मक हैं। साधारण रूप में इन लोक-गाथाओं को 'जन-काव्य' भी कहा जा सकता है। ये 'जन-काव्य' लोक देवताओं, लोक-वीरों, संत-महात्माओं, सतियों आदि के सम्बन्ध में विशेष रूप से गाए जाते हैं। इतना ही नहीं, कई 'झीडे' पौराणिक देवताओं के संबंध में भी हैं। आगे इस दिशा में साधारण जानकारी प्रस्तुत की जाती हैं।

**'पार्वती-मंगल'** अथवा **'पारवती जी रो विवाहलो'** राजस्थान की एक महत्वपूर्ण लोक-गाथा है। इसे जोगी लोग गाते हैं। और इसका आयोजन कई दिनों तक चलता है। इसी प्रकार 'पदम-भक्त' विरचित 'सम्मणी जी रो विवाहलो' भी एक लोक काव्य का रूप धारण कर चुका है। वह भी आयोजन के साथ गाया जाता है। जब वह समाप्त होता है, तो 'नानी बाई रो मायरो'

भी उसके साथ प्रायः गाया जाता है। इन लोक-गाथाओं का गायन भक्तिपूर्ण है। राजस्थानी महिला-समाज में इनका विशेष प्रचार है।

संत महीला 'तोळादे' तथा 'रूपादें' के 'झीडे' भी लोक-गायकों से वड़े चाव के साथ सुने जाते हैं। इन में इन महिलाओं के चमत्कार पूर्ण कार्यों की कहानी कही जाती है। जिन में जनसाधारण को पूरा विश्वास रहता है। ये काव्य भी एक प्रकार से भक्ति के क्षणों में भी गाए अथवा सुने जाते हैं। इसी क्रम में गोपीचंद और भरथरी संवंधी 'झीडे' भी हैं। ये वैराग्य प्रधान हैं। इनको भी जोगी लोग गाते हैं और ये वड़े मार्मिक हैं। इनमें गोपीचंद तथा भरथरी की कथाएँ कुछ विस्तार के साथ गाई जाती हैं।

रामदेवजी तथा गोगाजी सम्वन्धी भी अनेक 'झीडे' हैं। परन्तु इनमें तेजाजी के गीत का वड़ा महत्त्व है। इसे आयोजन के साथ तो गाते ही है; परन्तु हल चलाते समय किसान लोग भी किसी रूप में अवश्य गाते हैं। तेजाजी जाट युवक थे, जिन्होंने गायों के रक्षार्थ अपने प्राण दिए। फलस्वरूप सम्पूर्ण राजस्थान में वे लोक-देवता के रूप में पूजे जाते हैं। गायों की रक्षा में प्राण देने वाले एक अन्य लोक-वीर पिरथीराज भी प्रसिद्ध है। इनके संवंध में [1]'पिरथीराज-सुरजा' नामक लंवा गीत गाया जाता है। यह भाई-वहन के प्रेम की एक सुन्दर कहानी है। हर्ष और जीण संवंधी 'झीडे' में भी भाई-वहन के स्नेह का सागर उमड़ा पड़ता है। यह गीत राजस्थान में अति प्रसिद्ध हैं।

राजस्थानी जन-काव्यों में 'डूंगजी-जवारजी' के गीत का निराला ही स्थान है—

डूंगजी-जवारजी की कहानी भी जनसाधारण में वड़ी प्रचलित और प्रसिद्ध रही है और यह उचित भी है। देश की आजादी के लिए लड़ने वालों को उसके देशवासी भला कैसे भूल-विसर सकते हैं।

वताया जाता है कि सन् 1818 में जयपुर के राजा के साथ उस समय अंग्रेजों की एक संधि हुई। इस संधि से वहाँ के कई सरदार असंतुष्ट और नाराज थे। फलतः सन् 1824 में सूरजमल ने कुछ राजपूतों को साथ लेकर हरियाणे के गांवों को लूटा-खसोटा। ये गाँव अँग्रेजों के अधीन थे।

---

1. विस्तार के लिए देखिए—'पिरथीराज-सुरजा' नामक जन-काव्य ( संपादक डॉ॰ उदयवीर शर्मा तथा प्रकाशक—राजस्थान साहित्य समिति, विसाऊ )

सूरजमल बीकानेर के गाँव दड़ेवा के थे। उनकी वीरता और साहस से प्रभावित होकर कई राजपूत सरदारों को जोश आ गया।

इस प्रेरणा ने शेखावाटी के गाँव वढोठ निवासी डूंगर सिंह और जवार सिंह को प्रभावित किया और वे अंग्रेजों के खिलाफ उठ खड़े हुए।

डूंगजी और जवारजी अधिकतर अजमेर की तरफ ही धावा मारते रहे। वे अंग्रेजों की डाक तथा खजाना आदि लूट लिया करते।

जनता ने इन स्वतंत्रता सेनानियों को लोक-वीर का सम्मान दिया। इनके पास इतनी अधिक शक्ति नहीं थी कि वे भारत से अथवा राजस्थान से अंग्रेजों की सत्ता समाप्त कर दें। फिर भी इन्होंने इस दिशा में जो कार्य किया वह आगे चलकर अन्य स्वतंत्रता सेनानियों के लिए बड़ा प्रेरणा दायक सिद्ध हुआ। इनकी गाथा आज भी राजस्थान में बड़े चाव के साथ गाई सुनी जाती है।

ऊपर राजस्थानी लोक-गाथाओं पर सामान्य चर्चा की गई है। क्योंकि इनका अपना स्वतंत्र महत्व है। इनके संबंध में काफी शोध कार्य हुआ है और हो भी रहा है। राजस्थानी लोक-गाथाओं विषयक डा० कृष्णकुमार शर्मा का शोध प्रवन्ध अवलोकनीय है।

कहना न होगा कि राजस्थानी लोक-गाथाओं के संबंध में और भी अधिक कार्य किए जाने की जरूरत है। अभी तक अनेक ऐसे 'झीडे हैं', जो लिपिवद्ध भी नहीं किए जा सके हैं। अतः उनका संकलन, सम्पादन और प्रकाशन योजनावद्ध तरीके से होना चाहिए।

राजस्थानी लोक-साहित्य का दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग लोक-कथाएँ हैं, जिन पर आगे चर्चा की जा रही है।

## राजस्थानी लोक-कथाएँ

मानव के परम्परागत मौखिक साहित्य में लोक-कथाओं का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। यह मौखिक साहित्य जहाँ का भी होता है, उस देश अथवा राष्ट्र के धर्म, समाज, राजनीति, सदाचार, विश्वास, आकांक्षाएँ आदि पर तो प्रकाश डालता ही हैं, साथ ही वहाँ की स्थानीय विशेषताएँ, स्थानीय इतिहास, और भूगोल सम्बन्धी तथ्यों पर भी एक बड़ी मात्रा में ठोस सामग्री प्रस्तुत करता हैं। भाषा-शास्त्री के लिए तो यह लोक-साहित्य एक बहुत बड़ा

साधन है। निसन्देह यह एक ऐसा साहित्य-सागर है, जिसमें गोता लगाने पर अनायास ही गोताखोर को अनेक अनमोल मोती हाथ लग सकते हैं। थोड़े में ऐसा कह दें कि किसी भी देश की लोक-कथाएँ वहाँ के लोगों को समझने में हमारी सर्वाधिक सहायता करती हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती।

संध्या के समय जैसे ही 'नानी' अथवा 'दादी' अपने कार्य से छुट्टी पाकर, काम-धँधे से जरा फुर्सत पाकर खाट पर बैठी कि त्यों ही छोटे-छोटे बच्चे आकर उसे घेर लेते हैं और आग्रह करने लगते हैं—'नानी मां कहानी सुनाओ! दादी मां कहानी सुनाओ।'

बुढ़िया भला बच्चों का आग्रह टाल सकती है? और वह प्रारम्भ करती है, एक था बकरिया, वह अपने ननिहाल गया। अथवा एक थो गिरगंदो राजा, बरै हिंदा सात बेटा,' आदि-आदि। और बच्चे 'हाँ नानी मां' 'हां दादी-मां' कहते हाँ! हाँ!! [ हुँ कारी देते हुए ] करते हुए बड़े प्रेम से झूम-झूम कर सुनते रहते, उत्सुकता से 'नानी' 'दादी' का मुँह निहारते रहते हैं। इधर अभी कहानी समाप्त भी नहीं हुई कि एक बच्चे को हँसते-हँसते नींद आने लगी और दूसरा वहीं जमीन पर लुढ़क कर सो रहा।

लोक-कथाओं का यह मन-भावना मनोहर दृश्य गाँवों में देखते ही बनता है। खेती-बाड़ी से निवृत हुए रात्रि में चौपाल के नीचे, सर्दी हो चाहे गर्मी इसकी परवाह न करते हुए ग्रामीण बन्धु इकट्ठे हो जाते हैं। चिलम भरी, दम मारा और फिर प्रारम्भ होती है कहानियाँ। एक व्यक्ति कहानी कहता जाता है और शेष सभी बड़ी तन्मयता से दिन भर की थकान को भूल-बिसर कर, सुख-दुख से परे किसी दूसरी अनोखी दुनिया में सैर करते, ये लोक-कथाएँ, कहानियाँ सुनते रहते हैं।

लोक-साहित्य की महत्ता, उसकी उपादेयता किंवा उपयोगिता आज स्वयं सिद्ध जैसी कुछ लग रही है। लोक-साहित्य के जाने-माने और चोटी के विद्वानों द्वारा आज यह मान लिया गया है कि जनपदीय लोक-साहित्य में ही किसी देश की सभ्यता और संस्कृति अपने स्वाभाविक स्वरूप में विद्यमान है।

जिस प्रकार साहित्य की परिभाषा आज हम नपे-तुले शब्दों में अथवा किसी एक वाक्य में व्यक्त नहीं कर सकते, ठीक इसी प्रकार हम लोक-कथाओं को भी कोई एक निश्चित परिभाषा में नहीं बाँध सकते। अंग्रेजी लेखकों एवं विद्वानों ने इस दिशा में काफी कुछ कार्य किया है और निसन्देह उन्हें काफी कुछ सफलताएँ भी मिली हैं। उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन हमारे लोक-साहित्य में

रुचि रखने वाले शोध के विद्यार्थियों के लिए जहाँ उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, उतना ही उपयोगी एवं ज्ञान वर्द्धक एवं मार्ग-दर्शक के रूप में एवं दिशा निर्धारित करने के फलस्वरूप जनसाधारण के लिए भी कहा जा सकता है। इन विद्वानों ने अपनी-अपनी ओर से इस विषय को सीमा में रखने का, इसे बाँधकर नवनीत के लोधे के समान जमावट ( Condensed ) का रूप देने का प्रयास किया है। फिर भी हमारे विज्ञ पाठक देखेंगे कि वे अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफलीभूत रहे हैं। विद्वानों का एक वर्ग इस तथ्य का हिमायती रहा है कि यह नृतत्व शास्त्र ( Anthro Pology ) का अंग है, तो दूसरा वर्ग इस तथ्य की वकालत किए हुए हैं कि यह लोक-वार्ता शास्त्र' का प्रधान अंग है।

साहित्य जगत में फलतः आज इस प्रकार की परिभाषाएँ सुनने को मिलती हैं—

[1](1) लोक-वार्त्ता संस्कृति का साहित्यिक पक्ष है, 'Folk lore is composed of literary aspects of culture.

(2) लोक-वार्ता कला का वह स्वरूप है, जिसका आधार मौखिक है।
'That art from ....utilize spoken language as its medium.'

(3) लोक-वार्ता संस्कृति के सौन्दर्यात्मक पक्ष की वास्तविक अभिव्यक्ति है।
'The least tangible expression of aesthitic aspects of culture. —Hers kovits

(4) लोक-वार्ता मनुष्य के अमूर्त ( स्पिरिचुअल ) इतिहास का निर्माण-कर्त्ता है।

Folk-lore aimed to reconstruct the spiritual History of Mankind. —Krapple.

(5) लोक-वार्ता मानव समाज की व्यवहारिक अथवा अनुभवजन्य संस्कृति है।
'Folk-lore is traditional part of the culture. —R.S. Boggs.

(6) परम्परा ही लोक-वार्ता का मूल है।
Tradition is the touch stone of Folk-lore.
—Stith Thompson.

---

1. Journal American Folk-lore.—Jan, mar. 1958.
Vol. 66 No. 259, Page 1-17

(7) लोक-वार्ता अतिजीवन ( सर्वाईवल ) का विज्ञान है।
Folk-lore is the science of survivals. —Carlos Vega.

इन उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि लोक-वार्ता में साहित्य, मौखिक आधार, सौन्दर्यात्मकता, अमूर्त, इतिहास, अनुभव जन्य संस्कृति परम्परा तथा अति जीवन का समावेश आदि विषयों की चर्चा अवश्यमेव है। फिर भी इन सब मुद्दों एवं बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए किसी एक परिभाषा का अभाव कहीं रह गया है। इस निश्चय पर एक विचार आकर पुनः अटक-सा जाता है।

कारण स्पष्ट है—लोक-कथाओं का, लोक-वार्ताओं के अध्ययन का क्षेत्र केवल साहित्य ही हो ऐसा नहीं है। इनके अध्ययन का विषय केवल सौन्दर्य ही रहा हो, ऐसा भी नहीं है। मात्र परम्परा पर आधारित ही लोक-कथाओं की विशेषताओं का अध्ययन मान लिया जाय तो ऐसा भी नहीं लग रहा है। संस्कृति ही हमारी लोक-कथाओं का विषय रहा हो, ऐसा भी मानने में जरा हिचक-सी रहती है। तो क्या अतिजीवन आदि किसी एक विशेष विषय तक ही लोक-कथाओं का अध्ययन समीचीन समझा जाए, यह भी समझ में नहीं आने जैसी बात है।

सच तो यह है कि लोक-कथाएँ मनुष्य के सम्पूर्ण हृदय और मस्तिष्क का अध्ययन करने वाला शास्त्र है। यह शास्त्र 'प्रचलित-धारणाओं' पर ही आधारित है। अतः हमारे विचार से इसकी परिभाषा यदि थोड़े में रखी जा सके तो हम कह सकते हैं—लोक-कथा मौखिक साहित्य का वह प्रमुख अंग है, जिसमें किसी राष्ट्र, देश, नगर अथवा जनपद के प्राचीनतम एवं आदि संस्कृति का स्पष्ट आभास मिलता है।

लोक-कथाओं में वैसे तो कई प्रकार की अपनी विशेषताएँ हैं। फिर भी थोड़ी बहुत ऐसी विशेषताएँ हैं जिन्हें हम यहाँ उल्लेख करना न्यायोचित्त समझते हैं।

सबसे पहली विशेषता लोक-कथाओं की यह है कि ये रात्रि में ही सुनी-सुनाई जाती है। दिन के समय लोक-कथाएँ ( व्रत-कथाओं आदि को छोड़कर ) नहीं कही जाती। ऐसा विधान क्यों है? इसके पीछे कौन-सा तथ्य रहा है। क्या दिन का समय काम-काज में लगा रहने के लिए है। अतः इस प्रकार का नियम बना दिया गया है। अपने-अपने कार्य से निवृत होकर, संध्या के समय दिल और दिमाग की थकान मिटाने के लिए अथवा अवकाश के क्षणों को

सत्-कार्य में लगाने के लिए रात्रि का समय ठीक, अभीष्ट समझ कर रखा गया हो। सच्चाई कुछ भी रही हो, लेकिन एक ऐसा लोक विश्वास भी इन कथाओं के पीछे कार्य करता रहा है—दिन में कथा-कहानी कहने से राही रास्ता भूल जाता है। हमें ठीक याद पड़ता है कि हमारी पूज्या माताजी भी यही हमसे भी कहा करती थीं—'बेटा' दिन में कहानी कहने से तुम्हारे मामा रास्ता भूल जाएँगे।'

लोक-कथा की दूसरी विशेषता यह है कि कहानी कहने वाला कहानी कहता जाए और उसे सुनने वाला 'हुंकारा' ( प्रत्युत्तर में 'हाँ', 'हाँ' ) अवश्य कहता जाए। राजस्थानी लोक-साहित्य में ऐसा भी सुनने को मिलता है— '( लोक-कथा ) में हूँकारो, फौज में नगारो।'

और यह ठीक भी है, कोई व्यक्ति यदि कोई बात कहता है, अपनी चर्चा करता है और सुनने वाला उसे यदि ध्यान-पूर्वक सुनता ही नहीं, तो उसका उत्साह ठंढा पड़ जाता है। फिर वह चाहे कहानी कहने वाला हो, लोक-कथा कहने वाला हो, व्रत या पर्व-कथा कहने वाला हो। कहने का मजा तभी है, जब श्रोतागण बड़े मनोयोग से उसे सुने, समझें।

लोक कथा चाहे कितनी भी रोचक क्यों न हो, फिर भी उसकी रोचकता अधिकांश, एक सीमा तक लोक-कथा के कहने वालों पर निर्भर करती है। कारण, उसे कहने का एक विशेष प्रकार का ढंग चाहिए। कथा सुनते समय उसकी मुखाकृति और भावभंगी, शब्दों की गतिशीलता और उनका आरोह-अवरोह ( उतार-चढ़ाव ) बड़ा ही अनुपम रहता है। भाव-प्रदर्शन ( हाव-भाव ) के बिना लोक-कथा का रस आधा ही रह जाता है। हमने अपने शोधकार्य में गाँवों-गाँवों में घूम-भटक कर अपनी आंखों देखा है—जहाँ कथा में वीर रस का प्रश्न आता है, कथा-कहानी कहने वाला अपनी मूंछों पर ताव देता हुआ नजर आता है। और कथा में जहाँ किसी शत्रु को मारने का प्रसंग आता है, वह मारे जोश के उठ खड़ा होता है—तलवार से शत्रु पर वार करता हुआ-सा प्रतीत होता है।

राजस्थानी लोक-कथाओं का प्रारम्भ अपनी विशेषता लेकर होता है। यह तो हम पूर्व ही उल्लेख कर गए हैं कि लोक-कथाकार चाहता है—उसके श्रोतागण उसकी कहानी को बड़े ध्यान और मनोयोग के साथ सुने। उसकी कहानी में 'हुंकारा' ( हाँ' 'हाँ' ऐसा अवश्य कहता जाए ) अवश्य दे। अतः

लोक कथाकार कथा को प्रारम्भ करने से पूर्व इस प्रकार प्रायः कहता हुआ पाया जाता है—

वात में हुँकारों,
फौज में नगारो।

वात करतां बार लागैं,
आधाक् सोवै,
आधाक् जागैं।

सोवणियां की पागड़ी,
जागता ले भागैं।

और फिर वह प्रारम्भ करता है—

'हाँ, रामजी थांनै भला दिन देवै, तो एक हो राजा...... ।'

और भी—

काणी कैरे कलूड़ा,
होंकारो दैरे मलूड़ा।

दो घड़ियां नै चोर लेग्या,
भाजरे पांगलिया।

म्हे गायां चारता,
म्हांनै छोरा मारता,
बाबै नै पुकारता।
इटियो चिटियौ बाई रो,
पोमचियो भोजाई रो,
काको घोड़ो काकैजी रो,
फूल बछैरो वीरैजी रो,
म्हे म्हारी माऊ जी रा।

और भी—

बोर रो काँटो अठारै हाथ,
जिण में वसै तीन गाँव,
दो तो ऊजड़ नै एक वसैई इनी।
बणां में वसै तीन कुमार,
दो ठोठ नै एक घड़नी जाणै।

बणा घड़िया तीन हांडा,
दो फूटा नै एक जोजरै।
बणा में रांध्या तीन चावळ,
दो तो काचा नै एक सीज्योई नी।
फेर जीमण नै बैठा तीन ब्रह्मण,
दो तो भूखा नै एक धाण्योई नी।
बणा मिली तीन गायां,
दो तो ठाली नै एक व्यावैई नी।
बणा ऊभी राखी तीन बाजारां में
दो बाजार तो ऊजड़ नै एक वसैई नी।
बणा रा वंध्या तीन रूपिया,
दो तो खोटा नै एक चालैई नी।
बणा नै तीन सोनारां नै बतायाग्या,
दो सोनार आंधा नै एक नै सुझैईनी।
बणा कैयो म्हां सूँ मसकरी?
वै ठोकी तीन जूता री—
दो तो चूकी नै एक लागीईनी।

अर्थ स्पष्ट है—

बेर का काँटा अठारह हाथ, जिसमें है तीन गाँव। दो गाँव तो ऊजड़ और एक बसता ही नहीं। उनमें बसते तीन कुम्हार, दो निकम्मे और एक घड़ ही नहीं जानता। उन्होंने घड़े तीन हांडे: दो फूटे हुए और एक जोजरा। उनमें पकाए तीन चावल: दो कच्चे और एक पका ही नहीं। फिर खाने बैठे तीन ब्राह्मण: दो भूखे और एक तृप्त ही नहीं हुआ। उनको मिली तीन गाएँ, दो बाँझ और एक व्याती ही नहीं। उनको तीन बाजारों में खड़ी की: दो दो बाजार तो ऊजड़ और एक बसता ही नहीं। उनके मिले तीन रुपये दो रुपये नकली और एक चलता ही नहीं। उनको तीन सुनारों के पास बताने गए: दो सुनार तो अंधे और एक को दिखता ही नहीं। उन्होंने कहा, हमसे ही हँसी, और मारी तीन जूतों की: दो जूते तो चूक गए और एक लगा ही नहीं।

इस प्रकार हमारे विज्ञ पाठक देखेंगे कि प्रारम्भ में श्रोताओं को मंत्र-मुग्ध कर राजस्थानी लोक-कथाकार फिर आगे अपनी बात कहता है।

और ठीक इसी प्रकार लोक कथा का अंत भी हमें रोचकता को लिए हुए प्रतीत होता है। लोक-कथाकार यह नहीं चाहता, कि सुनने वाले 'हुँकारा' न दें। अथवा कहानी सुनते समय वे लोग बेखबर होकर ऊँघने लग जाएँ। अतः वह कहानी (लोक-कथा ; लोक कहानी) की समाप्ति पर प्रायः ऐसा कहता हुआ सुनाई देता है—

इति काणी,
गोगा राणी,
नहीं सुणै,
जिकैरी सासू कांणी।

और भी—

ओड कहाणी,
मूँगा राणी,
मूंग पुराणा,
नहीं सुणनियै कै
सासरै का नाई अर बामण,
सैही कांणा।

लोक-कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सादगी है, जिसका प्रभाव श्रोतागण पर स्थाई एवं अचूक होता है। यहाँ असम्भव को सम्भव मानकर चलना होता है। अविश्वास का यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तर्क को लोक-कथाओं में कोई स्थान नहीं दिया गया है। यहां लोक-कथाओं में कहीं पत्थर बोलते हैं, तो कहीं-कहीं रीछ से भी राजकुमारी का विवाह हो जाता है।

लोक-कथाओं के विषय में एक स्थल पर रवि बाबू ने लिखा है—अंग्रेजी में एक कहावत है, प्रश्न मत करो, नहीं तो झूठा जवाब सुनना पड़ेगा। लगता है, बालक इस बात को समझता है, वह कोई प्रश्न नहीं करता। इसलिए कि कहानियों के सुन्दर झूठ बच्चे के समान सरल हैं, झरते हुए ताजे झरने की तरह स्वच्छ हैं और आज का सुचतुर झूठ नकाबपोश झूठ है। कहीं भी तिल मात्र छिद्र रह जाए तो पट की तरह से भण्डा-फोड़ हो जाता है। पाठक विमुख हो जाता है और लेखक को आगे राह नहीं मिलती।

लोक-कथाओं में देश या पात्रों के नाम प्रायः नहीं होते। और यदि देखा भी जाए तो यथार्थ में नाम और स्थान लोक-कहानीकार के लिए कोई महत्व

नहीं रखते । वह कोई से-भी-काम चला लेता है । किन्तु कहानियों के अभिप्रायों ( Motifs ) को वह अक्षुण्ण रखने की चेष्टा करता है । देश-काल की सीमा से ये मुक्त रहती हैं । फिर भी हम आज देख; सुन, पढ़ रहे हैं कि अनादिकाल से ये मानव का मनोरंजन करती आ रही हैं और अंत तक करती रहेंगी ।

भाषा की सादगी ही लोक-कथा की अपनी विशेषता व जीवन है । अस्वाभाविक अलंकारों की भरमार एवं आडम्बर से ये परे रहती हैं । इन्हें जैसा और जिस मूल-रुप व स्वरुप में एक ने सुना, दूसरा व्यक्ति इसे ठीक उसी प्रकार से ही कहेगा । और यही कारण रहा है कि आज ये लोक-कथाएँ युग-युगान्तर के उपरान्त भी जीवित रहने में समर्थ हो सकी हैं ।

राजस्थान में लोक-कथा को 'वात' अथवा 'वार्ता' भी कहते हैं ।

राजस्थानी लोक-कथाओं में उपर्युक्त सभी प्रकार की विशेषताओं के साथ ही-साथ अपनी निराली विशेषताएँ भी हैं । राजस्थानी संस्कृति का सजीव चित्रण तो इनमें होता ही है । वीरता, राजस्थानी संस्कृति का प्रधान अंग एवं तत्व रहा है । यहाँ की लोक-कथाओं में वीर-रस का निरुपण बड़े ही अनोखे-रूप से चित्रित हुआ है । हमारी लोक-कथाओं में युद्ध के समय की जटिल-परिस्थितियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । अस्त्र-शस्त्र, युद्ध-वाद्य, रण-सम्बन्धी वेष-भूषा, सेना, विविध प्रकार की युद्ध-रचना, युद्ध की भयंकरता आदि का यहाँ की लोक-कथाओं में सजीव-वर्णन मिलता है ।

मातृ-भूमि के लिए अपने आपको त्याग कर देना, अपने प्राणों को उत्सर्ग करने वाले देश-भक्त वीरों की तो सैकड़ो लोक-कथाएँ हैं ।

प्रेम-वार्ताओं, प्रेम-कथाओं में भी मातृ-भूमि के लिए असीम त्याग और हीन-वासनाओं पर उच्च विचारों का विजय राजस्थानी लोक-कथाओं की अपनी महत्ता एवं विशेषता रही है । मातृभूमि और व्यक्तिगत प्रेम का प्रश्न जहाँ पढ़ने को मिला है, जहाँ ऐसा द्वन्दात्मक प्रश्न आ उपस्थित हुआ है, वहाँ नायक और नायिका ने वीरता, चतुराई एवं त्याग के साथ मातृभूमि-सम्बन्धी अपना कर्तव्य पूरा करते हुए अपने प्रेम का निर्वाह किया है । व्यक्तिगत प्रेम का बलिदान मातृ-भूमि के हितार्थ राजस्थानी लोक-कथाओं में अपने विशेष गौरवपूर्ण रूप में विश्व के लिए अनुकरणीय रहा है ।

राजस्थानी लोक-कथाओं में एक बड़ी विशेषता जो हमें अपनी ओर से प्ररिलक्षित हो सकी है, वह है उनका लिपिबद्ध कार्य । राजस्थानी लोक-कथाओं

को लिपिबद्ध करने की परम्परा पुराने समय से मिलती है। छोटी-बड़ी वार्ताओं के सैकड़ों-संग्रह विभिन्न भण्डारों में, यत्र-तत्र लोगों के पास देखने एवं पढ़ने को मिलते हैं। राजस्थान में कई व्यक्तियों का एवं जातियों का वंश-परम्परागत व्यवसाय रहा है—लोक-कथाओं द्वारा अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन करना। हमें ऐसा लगता है—संसार में ऐसा कोई भी राज्य अथवा देश नहीं होगा, जहाँ इतनी अधिक संख्या में लिपि-बद्ध लोक-कथाएँ हों, जितनी कि राजस्थान में हैं। अकेले बीकानेर को ही लें, तो श्री अनूप संस्कृत लायब्रेरी और श्री अभय जैन ग्रंथालय (श्री अगरचंद नाहटा) में ही हजारों की संख्या में लिपिबद्ध वातें हैं।

निसन्देह, राजस्थानी लोक-कथा साहित्य एक विशाल सागर के समान है। अतः इन कथाओं का वर्गीकरण कर देना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य कहा जा सकता है। मानव जीवन का ऐसा कोई पहलू अथवा विषय अछूता नहीं रह जाता, जिसे इन लोक-कथाओं में स्थान न मिल सका हो।

मोटे रूप से इन लोक-कथाओं का वर्गीकरण पाठकों की सुविधा के लिए हम इस प्रकार से करने का प्रयास कर सकते हैं—

(1) ऐतिहासिक (2) सामाजिक (3) अलौकिक (परियों और देवी-देवताओं सम्बन्धी) (4) पौराणिक (5) प्रकृति सम्बन्धी (6) प्रेमकथाएँ (7) उपदेशात्मक (8) कहावती कथाएँ (9) पारिवारिक कथाएँ (10) वच्चों की कथाएँ (11) उत्सव और त्यौहार संबन्धी कथाएँ (12) व्रत-कथाएँ (13) संस्कार कथाएँ (14) हास्य, व्यंग्य-विनोद की कथाएँ (15) नीति विषयक कथाएँ (16) मनोवैज्ञानिक कथाएँ (17) प्रतीकात्मक कथाएँ (18) भूत-प्रेत की कथाएँ (19) भौगोलिक कथाएँ (20) श्राद्ध की कथाएँ (21) वीरों की कथाएँ (22) छन्द-वद्ध कथाएँ (23) वैशाख की कथाएँ (24) कार्तिक मास की कथाएँ (25) तुलसी-पूजन की कथाएँ आदि-आदि।

यहाँ हम अपने पाठकों से यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि लोक-कथाओं के विषय में यह हमारा वर्गीकरण कोई अपने आप में पूर्ण ही हो, ऐसा हमारा दावा कभी नहीं हो सकता। हो सकता है—कई प्रकार की लोक-कथाएं हमारी शोध-खोज के क्षितिज से परे एक सीमा पर रही हों। अतिरिक्त इस प्रकार का यह वर्गीकरण हमने अपने अध्ययन-मनन की सुविधा को दृष्टिगत रख कर किया है। और फिर व्यक्ति की रुचि भिन्न रहती है, समझने-समझाने

का माद्दा भी अलग रहता है। हर व्यक्ति के विवेक की दौड़ उसकी अपनी पहुँच तक होती है। साथ ही यह भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि इन सभी वर्गों पर प्रकाश डाल देना संभव भी न हो सकेगा। कारण स्थानाभाव और विषय की गरिमा एवं 'विस्तृत-क्षेत्र' हमें यह सब करने के लिए विवश किए हुए है।

हमारी लोक-कथाओं में 'प्रेम-कथाओं', प्रेमाख्यानों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रेम कथाएं वैसे तो सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध होती रही हैं। लेकिन आज जन-साधारण में ये प्रेम-कथाएं विशेष चर्चित और उल्लेखनीय रही हैं—

(1) ढ़ोला-मारु (2) जल्लाल-बूबना [1](3) ससी-पूनों (4) सदै वछ-साव-लिंगा (5) नागजी-नागवंती (6) बीझां-सोरठ (7) मूमळ-महेन्दरो (8) जेठवा-ऊजली (9) पन्ना-वीरमदे आदि-आदि।

प्रेम-कथाओं की अपनी कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार से अध्ययन का विषय बन सकती हैं। कथा में प्रेम-विकास रूप-दर्शन से प्रारंभ होता है। नायक अपनी नायिका की प्राप्ति के लिए हर संभव प्रयास करता है। कहीं-कहीं प्रेमी को अपनी प्रेमिका की प्राप्ति के लिए युद्ध भी करना होता है। इन कथाओं में 'विरह-वेदना' अत्यधिक रहती है। प्रेमी और प्रेमिका का मिलन सुखान्त और इसके विपरीत दुखान्त कथा कहलाती है। कई ऐसी कथाएँ भी हैं, जिनमें नायिका अपने प्रेमी, नायक के साथ चिता में बैठकर जल मरती है। अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्राणों की वह तनिक भी परवाह नहीं करता। प्रेम-कथाओं में प्रेम का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का मान कर कथा आगे बढ़ती है। प्रेम-कथाओं में स्थानीय विशेषताएं ( Local Colour ) रहती हैं। आखेट खेलते-खेलते नायक का मार्ग भूल-भटक जाना, तो कहीं अकाल पड़ जाने के कारण नायक का अपने स्थानसे किसी दूसरे शहर और स्थान को प्रस्थान करना आदि वर्णन मिलता है। प्रेम-कथाओं में प्रेम का आरंभ हम भौतिक आकर्षण से होता हुआ बहुधा देखते हैं। परन्तु यह भौतिक-आकर्षण अन्ततोगत्वा, अंत में उस स्थिति पर पहुंच जाता है, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका परस्पर और दो शरीर एक प्राण हो जाते हैं।

---

1 राजस्थानी प्रेम कथाएं—मोहनलाल पुरोहित

एक तथ्य और भी इन गाथाओं, कथाओं में स्पष्ट किया गया है कि प्रेम का मार्ग उन्मुक्त है। इस मार्ग में बाधाएं अवश्य आती हैं। परन्तु उनके कारण प्रेमी अपने प्रेम को त्याग नहीं सकता। वह तो अनवरत प्रेम के मार्ग पर आगे बढ़ता रहता है। प्रेम नियम और बन्धनों से परे है।

राजस्थानी प्रेम-कथाओं को हमारे पाठक इन तथ्यों के आधार पर परख सकेंगे। अपवादों को छोड़ दीजिए, ये तो न्यूनाधिक कहीं भी ढूँढने से मिल सकते हैं। वैसे प्रेम का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत और व्यापक रहा है। संसार के सभी लोग प्रेम को पालते हैं। हम सब किसी वस्तु से प्रेम करते ही हैं। बिना प्रेम का जीवनशून्य के समान समझा जाता है। अतः प्रेम ही जीवन है, हमारी-प्रेरणा है। जीवन का अस्तित्व ही प्रेम पर निर्भर करता है। और यह सत्य है—Love is God and God is love.

प्रेम स्वर्ग का रास्ता है, तो बुद्ध के शब्दों में प्रेम मनुष्यत्व का नाम है। स्पेन्सर के शब्दों में सब कुछ प्रेम के खातिर और बदले के लिए कुछ नहीं। और यह सत्य भी है—विशुद्ध प्रेम हृदय में वासना नहीं उत्पन्न करता, हृदय को वासना शून्य करता है। राजस्थानी लोक-साहित्य 'ढोला-मारु', 'मूमळ-महेन्दरो, सैणी-वीजानन्द आदि प्रेम-कथाओं को आज भी सुरक्षित रखे हुए है। गाँव-गाँव और घर-घर में आज भी ये कथाएं जन-साधारण के कंठ का हार बनी हुई हैं।

हमारी संस्कृति संतों और ऋषियों की संस्कृति रही है। अहिंसा-मूलक हमारी संस्कृति में धर्म का बड़ा ही महत्त्व रहा है। और जहाँ तक 'व्रत' का सम्बन्ध है, धर्म और व्रत का सम्बन्ध बड़ा ही गहरा है। हमारे विचार से शायद ही ऐसा कोई धर्म होगा, जिसमें 'व्रतों' को लेकर उनके आचरण को महत्त्व न दिया गया हो, हमारे वैदिक-धर्म-में भी व्रतों की बड़ी महत्त्व निष्ठा रही है। इन व्रतों को ठीक-ठाक समझने के लिए, इनका ठीक प्रकार से-निर्णय करने के लिए, जितना आग्रह हमें हमारे धर्म में दिखाया गया है, उतना किसी भी धर्म में नहीं दिखाई देता। इसीलिए हमारे-धर्म-शास्त्र का एक विशेष अंग व्रतों के निर्णय और अनुष्ठान को लेकर प्रवृत्त होता परिलक्षित होता है।

वैसे 'व्रत' का सामान्य अर्थ है 'कर्म'। एक ऐसा कर्म जो कर्त्ता को शुभ या अशुभ रूप से बाँध लेता है, 'व्रत' कहलाता है।

मनुष्य कर्मों के अधीन है। जैसा भी वह कर्म करता है, उसका फल उसे

भोगना ही पड़ता है। अतः 'कर्म' को व्रत कहते हैं। इस प्रकार का अर्थ हमें संहिताओं में नाना-स्थलों पर पढ़ने-देखने को मिलता है।

'व्रत' का एक दूसरा अर्थ भी है। और वह है उपवास आदि नियम-विशेष। इनका प्रयोग वेद में स्पष्टतया देखा जा सकता है। यथा—

( अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि )

( शुक्ल यजु, संहिता 1/5 )

राजस्थान में कुछ ऐसे व्रत हैं, जिन्हें यहाँ के लोग-बाग समय-समय पर प्रायः करते ही रहते हैं। [1] जिनमें (1) गणगौर (2) रामनाम (3) नृसिंह चौदस (4) आसमाता (5) निर्जला एकादशी (6) लोड़ी तीज (7) नाग पांचू ( नाग-पंचमी ) (8) बड़ी तीज (9) रिखपांचम ( ऋषि-पंचमी ) (10) जन्माष्टमी ( कृष्ण-जन्माष्टमी ) (11) गणेश चौथ ( उघड़ा चौथ ) (12) अनन्त-चौदस (13) गोप अष्टमी (14) आंवला-नौंमी (15) देव उठणी इग्यारस आदि व्रत प्रमुख रहे हैं।

ग्रह—राशि के अनुसार कुछ लोग 'सातवारों' को लेकर, सोम, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि और रवि को क्रमशः व्रत रखा करते हैं। लोक में एक बड़े समुदाय का ऐसा अटल-विश्वास है कि इस प्रकार के 'व्रत' और उपवास करने से ग्रह-बाधाएँ टल जाती हैं। घर में सुख-शान्ति और लक्ष्मी का आवागमन रहता है।

स्मरण रहे—हर व्रत के पीछे उसके माहात्म्य को लेकर कोई एक कथा कहानी रहती है। यदि गणेश-चौथ का व्रत है, तो 'गणेश-चौथ' की कथा है और यदि नागड़ा-पांचू है, तो उसके माहात्म्य को लेकर कथा है। इसी प्रकार इन 'सात वारों' के व्रतों की भी कथाएँ हैं। समय-समय पर व्रतों का पालन करते हुए इन कथाओं का पठन-पाठन माहात्म्य के साथ हमारे यहाँ होता रहता है—इन्हें हम व्रत-कथाएँ कह कर संबोधित करते हैं।

ठीक इसी प्रकार 'वैशाख' की व्रत-कथाएँ भी हैं। 'वैशाख' में हमारी माताएँ और बहनें सुबह-सुबह पीपल को सींचती हैं, उसमें पानी डालती हैं। वहाँ पूजन कराने वाली, पुजारिन 'बैशाख' माहात्म्य की कथा कहती है। यहाँ यह ध्यान रखने जैसी बात है कि पुजारिन हर-दिन उस तिथि के अनुसार ही कथा कहती है। उदाहरणार्थ जैसे आज तीज है, तो तीज की कथा और यदि

1. राजस्थानी व्रत-कथाएँ—मोहन लाल पुरोहित

चौथ है तो चौथ की कथा। तात्पर्य यह है कि हर तिथि की अपनी अलग से कथा-कहानी है। यह तो सभी जानते हैं कि एक महीने में तीस दिन होते हैं। और बैशाख के मास में भी तीस दिन ही रहे, तो इन तीस दिनों की पृथक-पृथक कथाएं हैं और ये कथाएं तिथि-वार-पुजारिन 'पीपल-पूजन' के समय कहती है।

'बैशाख-पूजन' में रविवार के दिन पीपल की पूजा माताएं नहीं करती। उस दिन आक का पूजन किया जाता है। ऐसा लोक-विश्वास है कि रविवार को लक्ष्मी का 'निवास' आक के पेड़ में रहता है।

'बैशाख' के महीने के समान ही कार्तिक की व्रत-कथाएं हैं। माताएं बहनें कार्तिक-मास में सुबह बहुत जल्दी सूर्य उदय होने से पूर्व 'तारों छाई रात' में ठंड़े पानी से स्नान करती हैं।

बैशाख के महीने में हमारे यहाँ पीपल के पेड़ का पूजन होता है और कार्तिक के महीने में घर-घर तुलसी का पूजन होता है। तुलसी-पूजन की कथाएं भी क्रमानुसार, दूज को अलग तो तीज को अलग और किसी प्रकार से कही सुनाई जाती है। हर तिथि को एक नई कथा कही जाती है।

इसी प्रकार 'एकादशी' के व्रत का, कथाओं का भी राजस्थान में हमारे यहाँ बड़ा ही महत्व रहा है। एक महीने में दो एकादशियाँ रहती है। अतः वर्ष भर में चौबीस एकादशियों के व्रत की कथाएं हमारे यहाँ प्रचलित हैं।

हमारी बालोपयोगी लोक-कथाएं अधिक संख्या में शृगाल, हाथी, बनिया, ब्राह्मण, राजपूत आदि को लेकर रही हैं। श्री मुरलीधर व्यास, डॉ० मनोहर शर्मा, मोहनलाल पुरोहित, डा० कन्हैयालाल सहल, श्री विजयदान देथा आदि विद्वानों ने जितनी लोक-कथाएं लिखी हैं, एवं संग्रहीत की है, उनमें अधिकांश संख्या में शृगाल, हाथी, बनिया, सम्बन्धी लोक-कथाएं ही हैं। और बहुत-सी अन्य जानवरों की हैं।

जहाँ तक अभिप्रायों का प्रश्न है—इनकी कोई एक निश्चित संख्या तो अभी तक नहीं बताई जा सकती। यह काम कठिन ही नहीं, हमें तो वैसे असंभव से भी अधिक असंभव-सा प्रतीत होता है, कारण राजस्थान के किसी एक जनपद को ही यदि ले लें, तो वहां भी बड़ी संख्या में लोक-कथाएं उपलब्ध हो सकती हैं। और फिर समूचे राजस्थान भर में कितनी लोक-कथाएं हो सकती हैं, और कितने प्रकार की हो सकती हैं, यह जरा टेढ़ा कार्य है। फिर भी मोटे-तौर पर जैसे कुछ अभिप्राय हमें मिलते हैं, उनकी जानकारी

यहाँ हम लोग साहित्य के पाठकों एवं विद्वानों की जिज्ञासा हेतु रखना उचित समझते हैं—

(1) परकाया प्रवेश ( Entering another's body )

(2) लिंग-परिवर्तन

(3) किसी बाह्य वस्तु में प्राण का बसाना

( 'The Life Index' हमारी अनेकों भूत-प्रेत, डाकनी-साकिनी, की कथाओं में इसका प्रयोग हुआ है।

(4) किसी विशाल पक्षी की पूँछ पर बैठ कर यात्रा करना।

(5) स्वप्न में भावी नायिका का दर्शन

(6) उजाड़ नगर का मिलना

(7) समुद्र-यात्रा के समय जलपोत का टूटना या डूबना और काष्ठ-फलक के सहारे नायक-नायिका की जीवन रक्षा।

(8) असम्भव ( Impossible motif )

(9) करके दिखावो ( Show me How )

(10) प्रतिध्वनि-शब्द ( An Echo word Motif )

(11) उपश्रवण ( Over hearing Motif )

(12) जानवरों की बोली समझना ( Understanding the language of animals )

(13) ऐसे जानवर जो जमीन में गड़ा धन बता दें ( Animals that reveal the burial treasure )

(14) नटो तो कहो मत ( The difficulty of keeping a secret & danger of revealing it )

(15) नायक-नायिका का नर देह छोड़कर पत्थर का बन जाना

(16) नायक का शरीर त्याग कर साँप बन जाना

(17) कुत्ते की स्वामी भक्ति ( The faithful dog )

(18) एक ही साथ हँसना और रोना

(19) बोलने वाली गुफा या चट्टान

(20) स्त्री की कामना

(21) प्रस्तर मूर्तियों का जीवित होना

(22) राजा द्वारा असम्भव एवं कठिन कार्य को सिद्धि के उपहार स्वरूप आधा राज्य और राजकुमारी देने की घोषणा

(23) उल्टी शिक्षा का घोड़ा।

(24) यज्ञ, तपस्या अथवा फलादि से संतानोत्पत्ति

(25) 'शिव मोटिफ'—अर्थात् दूसरे की रक्षा के लिए अपने शरीर का मांस देना

(26) शुभ अथवा अशुभ शकुन

(27) आत्महत्या करने की धमकी

( प्रायः चिता में जलकर या खाना-पीना छोड़कर कथा को बढ़ाने वाला साधारण अभिप्राय। )

(28) संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ कोई नहीं देखता हो।

(29) अमृतफल लाने वाला तोता

(30) भाग्य परिवर्तन

(31) भ्रमण करने वाली खोपड़ी

(32) बारह वर्षों की अवधि ( The twelve year's Segregation. )

(33) मच्छी के पेट में—

( कहीं-कहीं मगर, अजगर अथवा हाथी इत्यादि जंगली जानवर के पेट में भी नायक चला जाता है और उसे फाड़ कर जीवित बाहर निकलता है। In the Belly of Fish )

(34) हृदय माँगना ( खाने के लिए ) (The Liver in the Folk-lore.)

(35) भूत-प्रेत और राक्षस ( The ogres and Demons )

(36) उत्तर दिशा निषेध ( Forbidden North )

(37) शिव और पार्वती का मरे हुओं को पुनः जीवित करना।
( Restoration to life. )

(38) जादू का डंडा

(39) जादू के खड़ाऊँ से पानी पर चलना

(40) अदृश्य होने का गुटका

(41) इच्छित वस्तु देने की कड़ाई

(42) जादू का घोड़ा ( Magic Horse. )

(43) जादू की खाट ( Magic Cot )

(44) जादू की वर्षा, जादू की आँधी, जादू द्वारा पत्थरों की वर्षा, जादू द्वारा जंगल पैदा करना, पहाड़ खड़ा कर देना, जादू द्वारा पानी की नदी बना देना। ( Magic obstacles Motif )

(45) परियों आदि से नायक का विवाह

(46) भविष्य कथन तीर द्वारा

(47) अनशन लेना, भोजन नहीं करना

(49) जादू की खेती ( Magic cultivation )

(50) पानी की खोज में नायक का वन में भटकना

(51) ठगों द्वारा ठगा जाना

(52) सेख शिली

(53) सांकेतिक भाषा ( The Language of signs )

(54) हँसी क्यों ?

(55) भाई बहन का विवाह

(56) पशुओं के साथ विवाह

(57) सनी

(58) विद्या के रुप में परिवर्तन,

(59) पिछले पति से मिलने के उपाय,

( सदाव्रत, पक्षियों का अनाज नायिका द्वारा अपने हाथों दिलवाना आदि )

(60) भावी संकट

(61) भाइयों का विश्वास घात,

(62) कड़ाह में मनुष्य का पकना,

(63) हँसने पर मुंह से फूलों का गिरना,

(64) मुँह में से सर्प का निकलना,

(65) मुँह में से मणि का निकलना,

(66) फाँसी से बचने के उपाय,

(67) हाथी द्वारा राजा निर्वाचन,

(68) आयु बाँटना इत्यादि,

यहाँ केवल थोड़े से अभिप्रायों का स्थानाभाव के कारण संकेत किया गया है।

प्रसन्नता का विषय है कि राजस्थान के विद्वानों का ध्यान इस ओर भी रहा है और लोक-कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन आज बड़े पैमाने पर हो रहा है।

अभिप्रायों का अध्ययन केवल साहित्यिक मनोविनोद तक ही सीमित नहीं रहा है। अब तो यह सम्पूर्ण मनुष्य जाति को समझने में प्रधान उपकरणों में गिना जाने लगा है। आज का मनुष्य यद्यपि अपनी आदम अवस्था पार कर आया है, परन्तु उसके वर्तमान रूप में आदम अवस्था के जीवन का महत्वपूर्ण योग है। लोक-कथाओं ने निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि ऊपर के सतह के विलोड़न-आलोड़न और विक्षोभ-चाँचल्य के रहते हुए भी मूल में मनुष्य एक है।

'दोहा' राजस्थानी साहित्य का विशेष प्रकार का प्रसिद्ध छन्द रहा है। आज खोज करने पर 20/25 लाख दोहों की संख्या का अनुमान विद्वान लोगों की खोज और शोध का परिणाम रहा है। दोहों को लेकर अथवा लोक-कथा की समाप्ति पर 'दोहा' देकर यहाँ सैकड़ों लोक-कथाएं मिलती है।

यथा

राते जै बुक बोलियो,
पिया ज मानी रीस।
अब कागो ऐसो कहै,
नव तेरह वाईस।

किसी भी प्राचीन एवं समुन्नत जाति का जीवन उसके प्रचलित रीति-रस्मों, व्रतों, पर्वों और त्यौहारों में ही पूर्णरुपेण प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ तक कि उस जाति विशेष और समाज विशेष के सुदूर अतीत को भविष्य की कड़ियों से बाँधने का कार्य भी एक सीमा तक यह सब करते हैं। यहाँ के लोगों में—यहाँ के देशवासियों में इनके व्रतों, पर्वों और त्यौहारों की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। आज संसार में जिस भारतीय संस्कृति और सभ्यता को आदर, गौरव एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, उसके सर्वाङ्ग निर्माण में हमारे सामाजिक प्रचलित इन्हीं 'व्रतों' पर्वों और त्यौहारों का बहुत ही बड़ा योगदान रहा है। राजस्थानी लोक-कथाओं के अन्य वर्गों को उनके नामों के अनुसार समझ लेना चाहिए। स्थानाभाव के कारण यहाँ उनकी चर्चा करना संभव नहीं है।

**अभिप्राय ( Motifs )**

जहाँ राजस्थानी लोक कथाओं की अपनी विशेषताएँ रही हैं, उनके संदर्भ में हम उनके अभिप्रायों ( Motifs ) के विषय में उल्लेख कर देना न्यायोचित समझते हैं। लोक-कथा के शोध-कार्य में हमें ऐसा अनुभव रहा कि जितने बहुसंख्या में अभिप्राय (Motifs) राजस्थानी की एक लोक-कथा में देखने एवं पढ़ने को मिलते हैं, उतने विश्व की किसी भी एक लोक-कथा में नहीं। हमारे लिखने का मन्तव्य यह नहीं है कि इस प्रकार के 'अभिप्राय' दूसरे राष्ट्रों की लोक कथाओं में है ही नहीं। उन सभी लोक-कथाओं में 'अभिप्राय' हैं और अवश्य हैं। लेकिन किसी लोक-कथा में एक अभिप्राय है तो किसी में दो अथवा तीन लेकिन राजस्थानी की एक-एक लोक-कथा में दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह 'अभिप्राय' प्रायः हमें पढ़ने को मिलते हैं। यहाँ हम 'अभिप्रायों' ( Motifs ) के विषयों में जरा स्पष्ट हो जाना चाहते हैं। आज, इस आधुनिक युग में लोक-कथाओं का मूल्यांकन उसके मनोवैज्ञानिक-अध्ययन के आधारपर हो रहा है। अतः 'अभिप्राय' शब्द का स्पष्टीकरण इस दिशा में उचित ही रहेगा। आज समय की माँग है कि संकलित साहित्य का तुलनात्मक अध्यन, विश्लेषण करके उसके आधार पर कुछ सांस्कृतिक निष्कर्ष निकाले जाएँ।

हाँ, तो 'अभिप्राय'[1] उस शब्द अथवा एक साँचे में ढ़ले हुए उस विचार को कहते हैं, जो समान परिस्थितियों में अथवा समान मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार आता है।

स्टिथ-टामसन के अनुसार 'अभिप्राय' अथवा 'मोटिफ' वह अंग है जिसमें फोकलर के किसी भाग ( Item ) का विश्लेषण किया जा सके। लोक-कथा में डिजायन के मोटिफ होते हैं। लोक-संगीत में मोटिफ पाए जाते हैं। परन्तु लोक-कथा के क्षेत्र में ही इनका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया गया है।

[2]डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के कथनानुसार 'ईंट-गारे की सहायता से

---

1. Motif : A word or a pattern of the thought which recurs in a similar situation or be evoke a similar mood within a work or in a vrious work of a genre.

Shiple—Dictionary of world Literature

2. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'पाषाण नगरी' की भूमिका में,

जैसे भवन बनते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न अभिप्रायों की सहायता से कहानियों का रूप सम्पादित होता है।'

इधर गत वर्षों के लोक-कथाओं के अनुभव ने हमें यह भान करवाया है कि राजस्थानी लोक-कथाओं में सभी प्रकार के अभिप्रायों को लेकर लोक-कथाएँ मिलती हैं। अभिप्रायों की उपादेयता एवं महत्ता आज सर्वविदित है। इसे सभी विद्वानों ने स्वीकारा है। अभिप्रायों के माध्यम से लोक-कथा साहित्य का विद्यार्थी, कथाओं के मूल उत्स का संधान पा जाता है। विद्वान लोग देखेंगे कि 'पंचतंत्र' की कहानियाँ सारे संसार में अनायास ही फैल गई हैं। ईसप की नीति-कथाओं को और 'सहस्र रजनी चरित्र' के कौतूहल वर्द्धक कथानकों को संसार में गृहीत होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। जातक की कथाएं समूचे एशिया में और यूरोप में प्रचलित हो गई हैं। 'बेनिफी' ने अनुमान किया था कि हाथी से सम्बद्ध-घटना और शृगाल की चतुराई और धूर्त्तता विषयक अभिप्राय (मोटिफ) देखकर सहज ही समझ लिया जाता है कि ये कहानियाँ भारत से चली हैं।

छन्द-बद्ध लोक-कथाएं भी यहाँ बड़ी संख्या में मिलती हैं। इन कहानियों का वृत लघु होता है। इनमें दुहरावट भी होती है। बहुधा कहानी का प्रभावपूर्ण अंश 'छन्द-बद्ध' होता है। इन कहानियों में एक सहज सरलता रहती है, जिससे ये बाल मनोवृत्ति को संतुष्ट करने वाली हो जाती हैं। कौतुहल का भाव इतना प्रबल नहीं रहता जितना कि बात को प्रभविष्णु शब्दों में कहने का। इन्हें 'लघु-छन्द' कहानियाँ अथवा 'Drolls' भी कहते हैं।

राजस्थानी लोक-कथाओं में बड़ी संख्या में 'छन्द-बद्ध' कथाएँ हैं। हमारी लोक-कथाएं 'मै हूँ काग सुंदरिया' और 'चिडी और भैसँ' इस संदर्भ में मनन योग्य हैं। यहाँ 'छन्द बद्ध' कथाओं का एकाध उदाहरण देकर ही अपने-आप में संतोष कर लेना चाहेंगे।

यथा—

## जाट और जाटनी की लोक-कथा

प्र०—पाछा क्यूं वळिया ?
उ०—दो नाग मिलिया,
प्र०—रंग किसा ?
उ०—सोठां जिसा,

प्र०—भूंडा किसा ?

उ०—दाडमियां रोटां जिसा,

प्र०—चालै क्यूं कर ?

उ०—खीचड़ै में घी घालै ज्यूंकर

प्र०—आ बात क्यूं कर जाणी,

उ०—प्रभातै भूँजी धांणी,

प्र०—प्रभातै भूँजी धांणी,

और भी—

प्र०—जोसी जग दातार
जीमायां नै जीमसी

उ०—ऊत्रसी अंगार,
अंगारां पण भरोसो नहीं,

प्र०—म्हारी नजर अपार,
लागै सों जीवै नहीं,

उ०—मरसी मांगणहार,
जोसी नै जोखो नहीं,

अन्य भी—

कवि कहता है—

हंसा सरवर ना छोड़ियै
जे जळ खारो होय,
डाबर-डाबर भटकतां,
थांनै भळा न कैसी कोय।

हंस का उत्तर—हँसै नै सरवर घड़ा

सरवर का उत्तर—सरवर हंस करोड

कवि द्वारा— सरवर हंस मनाय लै
लगी प्रीत मत तोड़ ?

सरवर द्वारा—

आयां नै काढूँ नहीं,
जावतां नै कहूँ नहीं मोड़।

प्रवाद—

प्रवादों को लेकर भी राजस्थानी लोक-साहित्य का भण्डार भरा पूरा रहा है। 'प्रवाद' जन-श्रुति के आधार पर होते हैं। प्रवादों के विषय में एक स्थल पर ऐसा पढ़ने को मिला है—

[1]'राजस्थान में अगणित प्रवाद लोक प्रचलित हैं। इनमें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, हास्य रसात्मक, उद्‌बोधनात्मक तथा नीति सम्बन्धी बड़े ही सरल एवं चमत्कार पूर्ण प्रसंग रहते हैं।'

निसन्देह, 'प्रवाद' एक बड़ी सुन्दर लोक-साहित्य की विधा है। इस ओर लेखनी उठाने वालों में डॉ० मनोहर शर्मा, डॉ० कन्हैयालाल और रानी लक्ष्मी-कुमारी चूंडावत विशेष रूप से चर्चित है।

राजस्थानी लोक-साहित्य में कहावतों का बड़ा ही प्रचलन और महत्व है। वैसे तो हर देश और राष्ट्र के लोक-साहित्य में कहावतें पढ़ने-सुनने को मिलती हैं। लेकिन राजस्थानी भाषा की अपनी निराली शान और छटा है। इसकी अभिव्यञ्जना और अभिव्यक्ति शक्ति बड़ी सशक्त और वेजोड़ है। और तब फिर इस साहित्य की कहावतों का कहना ही क्या है, हास्य, व्यंग्य, नीति परक, शिक्षात्मक, उपदेशात्मक आदि नाना प्रकार के तथ्यों को अपने आप में समेटे ये कहावतें आज भी जन साधारण के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप में दिशा-सूचक सी प्रतीत होती हैं।

कहावतों को राजस्थानी में 'कैवत', 'आखाणो', 'ओखोणा', 'ओठो' आदि भी कहते हैं।

कहावतों को हिन्दी में को लोकोक्तियाँ और अंग्रेजी में Proverbs भी कहते हैं। [2]कहावतों को मराठी भाषा में 'आहणा' या 'अहाणा' ( A saying, Proverb ) भी कहते हैं।

कहावतों की जब हम परिभाषा में उतरते हैं तो हमें ऐसा कुछ पढ़ने को मिलता है—

[3]'बोलचाल में बहुत आनेवाला ऐसा बंधा चमत्कार पूर्ण वाक्य जिसमें कोई अनुभव या तथ्य की बात संक्षेप में कही गई हो। लोकोक्ति।

---

1. 'वरदा' वर्ष 2. अंक 3—डॉ० मनोहर शर्मा पृ० 26
2. The Aryabhushan—School Dictinary Marathe—English Page 51
3. नालन्दा—विशाल शब्द सागर पृ० 220

कहावतों के विषय में राजस्थानी भाषा के विद्वान् [1]श्री मुरलीधरजी व्यास अपने विचार इस प्रकार से व्यक्त करते हैं—

'कहावत साहित्य का अध्ययन करने से कहावत में निम्नलिखित विशेषताएं दीख पड़ती हैं—

(1) संक्षिप्त अर्थात् छोटापन—कहावत एक प्रकार का सूत्र है और उसमें थोड़े से थोड़े किन्तु सार गर्भित शब्दों का प्रयोग होता है।

(2) अनुभव एवं निरीक्षण से निश्चित किसी सिद्धान्त का समावेश।

(3) घरेलू भाषा।

(4) चुभती हुई और प्रभावोत्पादक कथन शैली।

(5) लोक प्रियता और लोक प्रचलन।

यहाँ कहावत और मुहावरे का भेद जरा स्पष्ट करना हम युक्ति संगत समझते हैं। यह एक ऐसी खलने जैसी भूल है जिसे अनेकानेक विद्वान् भी अपनी लेखनी से नहीं बचा पाए हैं। मुहावरे वाक्यांश होते हैं और वे स्वतंत्र रूप से व्यवहृत नहीं होते। कहावतें वाक्य हैं और स्वतंत्र रूपेण अपना अर्थ रखती हैं। लौकोक्तियाँ किसी विशेष अवसर पर कही जाती है और उनसे घटना का फल निकाला जाता है। मुहावरे वाक्य का अंग होते हैं और उनका फल से कोई सम्बन्ध नहीं होता। मुहावरा एक प्रकार का क्रिया पद होता है।

कई कहावतों के पीछे एक कथा अथवा प्रसंग रहता है। जैसे—

'आयी छाछनै, बण बैठी घर री धाणियाणी।'

अनधिकार चेष्टा करना।

एक व्यक्ति को कहीं जाना था। उसके अपने पड़ौसी से उसका बैलगाड़ी मांगी थी। पड़ौसी के नाते उस व्यक्ति ने अपने धर्म का पालन किया। उस जरुरत मन्द को अपनी बैल गाड़ी दे दी। लेकिन जब उसने उसे लौटने को कहा तो वह टालम-टोल करता रहा। और जतलाने लगा गोया गाड़ी उसी की है और माँगने वाला कोई दूसरा अन्य व्यक्ति है। इस पर उसने कहा, आई तो छाछ नै वण बैठी घर री धाणियाणी यार मैंने तुम्हें कुछ समय के लिए गाड़ी दी थी और तुम हो कि उस के मालिक ही बन बैठे।

इस प्रकार सैकड़ों की संख्या में कहावतें प्रचलित है। जैसे आकरो कीडो आक सूँ राजी; 'आप कमाया कामणा, किणनै दीजै दोष; पढया पण

1. राजस्थानी कहावतां—भाग 1 पृ० 5

गुण्या कोनी, 'रायां रा भाव रातैं गया, 'आपरो सगलां नै आछो लागै' "भैंसं रै भागवत बाँचणी" 'दूधरो दूध पाणी रो पाणी'।

प्रत्येक भाषा या बोली में अपनी-अपनी कहावतें व लोकोक्तियां होती हैं, जो उस भाषा में प्रयुक्त होकर उसकी शोभा और गरिमा को वढाती हैं। अन्य भाषाओं में उनका उसी प्रकार मिश्रण नहीं हो सकता, जैसे जल और तेलका। फिर भी जीवित भाषाओं के परस्पर मिश्रण से इन कहावतों, लोकोक्तियों का आदान-प्रदान होता रहता है।

राजस्थानी कहावतों पर विगत वर्षों में हमारे यहाँ वहुत वड़ा कार्य हुआ है जिनमें श्री मुरलोधर जी व्यास, श्री नरोत्तम दासजी स्वामी, डॉ० मनोहर शर्मा, श्री श्रीलाल मिश्र, श्रीगींडा राम, श्री जगसिंह गहलोत, श्री लक्ष्मीलाल जोशी, श्री कन्हैयालाल सहल, श्री रावतसारस्वत, मोहनलाल पुरोहित, श्री श्री कोमल कोठारी, श्री विजयदान देथा आदि विद्वानों का कार्य प्रशंसनीय रहा है। फिर भी आज इस कार्य को गतिशीलता प्रदान करते हुए निरन्तर आगे बढ़ाने की नितान्त आवश्यकता है।

निसन्देह हमारा लोक-साहित्य हमारी संस्कृति को अपने में समेटे-संजोए युग-युगान्तर से अक्षुण्ण रखे हुए है। किसी भी देश का लोक-साहित्य उसके विधान से भी वढ़कर होता है वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य है। किसी भी देश को यदि उसके मूल-रुप में समझना हो तो वहाँ के लोक-जीवन से विना परिचय पाए हुए उस देश की सांस्कृतिक चेतना को हम समग्र रुप से कदापि नहीं समझ सकते। आज विज्ञान का युग है। विज्ञान के वढ़ते चरणों में हम उस देश के साहित्य और तत्कालीन उन्नत सामाजिक परिस्थितियों का अनुमान लगा सकते हैं। लेकिन उस देश विशेष में क्या कुछ कमजोरियाँ हैं और क्या कुछ मजबूतियाँ हैं उसकी अपनी क्या सवलता या दुर्वलता है, समाज की आकांक्षाएँ 'क्या हैं आदि-आदि यह सब जानने और समझने के लिए वहाँ के लोक-साहित्य का सर्वाङ्ग रुपेण अध्ययन-अध्यापन एवं परिचय प्राप्त करना तो जरूरी ही है।

# राजस्थान का मन्दिर स्थापत्य

डा० रामनाथ
रीडर, इतिहास विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

काल संसार का क्रम है। इस क्रम का विधिवत लेखा-जोखा इतिहास है। युग बदलते हैं और उनके साथ उस विशेष भू-भाग पर रहने वाले मानव-समुदाय की आस्थाएँ, रुचियाँ और दृष्टिकोण बदल जाते हैं। इसलिए इतिहास का प्रत्येक नये युग में बदले हुए जीवन दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण और मूल्यांकन होता रहना नितान्त आवश्यक है। यही इतिहास की जीवन-परता है। यही उसकी वर्तमान के साथ जुड़े रहने की सार्थकता, प्रासंगिकता और उपयोगिता है। अन्यथा इतिहास परियों की कहानी मात्र रह जायेगा।

स्थापत्य इतिहास के स्रोतों में सर्वाधिक प्रामाणिक स्रोत है। ईंट-पत्थर से बने मन्दिर, महल, दुर्ग, कुएँ, बावड़ी, कुण्ड, सरोवर आदि किसी युग में किसी आवश्यकता, धार्मिक अथवा कला-भावना से प्रेरित होकर बनाये जाते हैं और उसके पश्चात उस युग का स्मरण कराते हैं—इसलिये हम उन्हें स्मारक कहते हैं। युग के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की छाप जितनी सच्चाई के साथ स्थापत्य

पर पड़ती है उतनी अन्य किसी स्रोत पर नहीं। कहीं पत्थर भी झूठ बोलते हैं? अबुलफ़ज़ल अकबर के इतिहास को बढ़ा घटा सकता था और बदायूँनी भी; एक उसका भक्त था और दूसरा उससे रुष्ट। मान्सरेट भी विद्वेष से कोई गलत बात कह सकता था। अकबर के अभिलेख और सिक्के प्रशस्ति वाचक और परिणामस्वरूप अतिशयोक्ति-पूर्ण हो सकते हैं। किन्तु अकबर ने फतेहपुर सीकरी में जो इमारतें बनवाई हैं, जिनमें उसके व्यक्तित्व और उस युग की मान्यताएँ, विचार, विश्वास, आस्थाएं रुचियाँ और भावनाएं प्रतिबिम्बित हैं। सच सच उस युग का इतिहास बताता है। उन्हें बदला नहीं जा सकता। उनमें न कुछ बढ़ाया जा सकता है, न कुछ घटाया। जो कुछ है पत्थर में साकार है, सरूप है और प्रत्यक्ष है। केवल हममें इन पत्थरों की भाषा पढ़ लेने की क्षमता होनी चाहिये।

इसी स्रोत—स्थापत्य के माध्यम से राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास का अध्ययन—अथवा पुनराध्ययन—करना रोचक तो होगा ही, साथ-साथ वर्तमान के सन्दर्भ में सार्थक भी होगा।

राजस्थान अत्यन्त प्राचीन काल से देश की प्रमुख सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और धाराओं से मूल और अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा है। चित्तौड़ दुर्ग में उसके समीप नगरी में और जयपुर के पास वैराठ में बौद्ध अवशेष मिले हैं जो धर्म साधनाओं और कला-भावनाओं के इस इतिहास को ईसा से कई शताब्दियों पूर्व ले जाते हैं। जब भारत में वैष्णववाद का उदय हुआ तो यहीं पहला—मध्य प्रदेश में विदिशा के समीप स्थित वेसनगर के वैष्णव-मन्दिर से भी पहले—भगवान संकर्षण-वासुदेव ( विष्णु ) का मन्दिर बना। आज भी चित्तौड़ के समीप नगरी में बेड़च नदी के किनारे स्थित इसके अवशेष देश के इस प्रथम वैष्णव मन्दिर के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय कराते हैं। चारो ओर पाषाण-शिलाओं से प्रशस्त दीवारों से बद्ध 'नारायण-वाटक' नामक इस मन्दिर के मध्य में एक खुला हुआ चबूतरा था जिसे तत्कालीन अभिलेख में 'पूजा-शिला-प्राकार' की संज्ञा दी गयी है—

"भगवद्भ्यां संकर्षणां वासुदेवाभ्यां अनिहताभ्यां
सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायण वाटका।"

इसके सम्मुख एक स्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ वैसे ही प्रस्तर-खण्डों से निर्मित किया गया था जैसे इस हाते की दीवारों में लगे थे और इसमें वैसा ही ढाल बाहरी दीवारों पर दिया गया था। कालान्तर में, गुप्तकाल के किसी चरण में,

वाजपेय-यज्ञ के अवसर पर इस स्तम्भ को यहाँ से हटाकर समीप ही अन्यत्र स्थापित कर दिया गया। आजकल इसे 'उभदीवल' कहते हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि राजस्थान में सभी धर्मों और उनसे सम्बद्ध भावनाओं को निरन्तर संरक्षण और पोषण मिला। यहाँ बौद्ध, जैन, वैष्णव और शैव धर्मों के बड़े-बड़े केन्द्र बने और उनके विशिष्ट आश्रम-स्थल स्थापित हुए। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत वल्लभ और रामानन्दी, शैवों में लकुलीश, तान्त्रिकों में नाथ; दादू और अन्य पन्थ और सम्प्रदाय। जहाँ भारत के अन्य प्रदेशों से बहुत से धर्म लुप्त हो गये, राजस्थान में वे आज भी जीवित हैं। प्राचीन धर्म साधनाओं और कला-प्रवृत्तियों को जीवित रखने की इस प्रदेश में अद्भुत क्षमता है। जैसे किसी भूमि में कपास और किसी में सन पैदा करने का प्राकृतिक गुण होता है वैसे ही यह क्षमता इस भूमि का स्वाभाविक गुण है।

यह द्रष्टव्य है कि सिन्ध, पंजाब, हरियाणा, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल निरन्तर आक्रमणकारियों द्वारा रौंदे गये हैं और राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक रूप से भी ध्वस्त किये जाते रहे हैं। १२ वीं १३ वीं शताब्दी में तुर्कों और १८वीं १९वीं शताब्दी में अँगरेजों के विजयोपरान्त उत्तरी भारत के इन प्रदेशों में यही हुआ और परिणाम-स्वरूप पुरातन-संस्कृति से उनका सम्बन्ध केवल कुछ कोनों को छोड़कर-निरन्तर टूटता रहा। नवीन प्रवाह में ये प्रदेश सहज ही बह जाते रहे और धीरे-धीरे ये अपना विशिष्ट सांस्कृतिक व्यक्तित्व भी खो बैठे। प्रत्येक नया युग जो भी नया रूप इन प्रदेशों को दे देता है, उसे ही ये ओढ़ लेते हैं। इसके विपरीत राजस्थान और गुजरात का और विंध्याचल से दक्षिण के प्रदेशों-महाराष्ट्र, आन्ध्र, तामिलनाद, कर्णाटक और केरल का अपना-अपना सांस्कृतिक व्यक्तित्व है। ये नवीन प्रवाह के साथ सहज ही नहीं बह जाते। नवीन प्रेरणाओं और प्रभावों को अपनी पुरातन मान्यताओं और आदर्शों के कलेवर में आत्मसात कर लेते हैं। उन्हें अपने रूप में ढालते हैं और अपनी विशिष्टता नहीं छोड़ते। उत्तरी भारत में यह विशेषता गुजरात से भी अधिक राजस्थान में है। अपनी पुरातन संस्कृति के प्रति इस भूमि की जो संस्कारगत निष्ठा है उसे नवीन युग निरन्तर टकरा-टकरा कर भी हिला नहीं पाता।

यहाँ कलाऐं लोक भावना से प्रेरित हैं। उनको संरक्षण चाहे रजवाड़े देते हों अथवा सेठ लोग—वे लोक जीवन की अभिव्यंजना ही अधिक करती हैं। विशुद्ध दरबारी कला, जैसी मुगल चित्रकला थी, राजस्थान में कभी पल्लवित

नहीं हो सकी। जन-जीवन की कोमल अनुभूतियों का चित्रण ही इन कलाओं की विशेषता है। यह जीवन व्यक्तिवादी नहीं, संस्कृति मूलक है। इसीलिये ये निरन्तर अविच्छिन्न रूप से गतिमान रहती हैं। मुगल चित्रकला की तरह दरबारी संरक्षण समाप्त हो जाने पर समाप्त नहीं हो जाती। सुगम अध्ययन के लिये राजस्थान के स्थापत्य को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—

### (१) मन्दिर-स्थापत्य

जिसमें गुप्तकाल से लेकर १६ वीं शताब्दी तक निर्मित झालरापाटन, कन्सुआ, ओसियाँ, माण्डौर, बुचकला, घाणेराव, कैकीड़, वर्मन, मेड़ता, किराडू, आवानेरी, घटियाला, पीपड़, नागौर, लाम्बा, आडवा, जगत, सीकर, बाडोली, कुझरियाजी, पारानगर, चन्द्रावती, आबू, चित्तौड़गढ़, राणकपुर, आमेर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर आदि के जैन, शैव और वैष्णव मन्दिर सम्मिलित हैं। इस भूमि पर तुर्क-मुगल या अँगरेजों का आधिपत्य नहीं हो सका और चित्तौड़गढ़ आदि कुछ स्थानों को छोड़कर जहाँ विध्वंस अवश्य हुआ, मन्दिरों की यह सांस्कृतिक धरोहर राजस्थान में शेष रह गयी है। खण्डहर, जीर्णोद्धारित अथवा मूलरूप में आज भी यहाँ हजारों मन्दिर हैं जो भारतीय मन्दिर-स्थापत्य के ग्रन्थ में अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ते हैं। इनकी अपनी शैलीगत विशेषताऐं हैं और इनमें से कुछ भारतवर्ष में अतुलनीय हैं।

### (२) आवास-स्थापत्य

जिसके अन्तर्गत नगर, दुर्ग, महल और हवेलियों का स्थापत्य है। जैसे जयपुर का नगर-निवेश, चित्तौड़ आदि दुर्ग ; आमेर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, डीग, भरतपुर आदि के महल और जयपुर और जैसलमेर की हवेलियाँ हैं। इसमें हवा-महल जैसी उत्कृष्ट कृतियों का अध्ययन है। महलों में मुगल-स्थापत्य से प्रेरित बाग और बहते हुए पानी की व्यवस्था इसी का एक रोचक अध्याय है।

### (३) जल-स्थापत्य

जिसमें कुऐं, बावड़ी, कुण्ड, सरोवर आदि जल से सम्बन्धित निर्माण हैं और जिसमें राज समन्द जैसे अद्भुत बाँध सम्मिलित हैं।

### (४) स्मारक-स्थापत्य

जिसमें जयपुर ( आमेर और गैटौर ), उदयपुर ( आहाड़ ), जोधपुर ( माण्डौर ), बीकानेर ( देवीकुण्ड ), बूँदी ( केशर बाग ), अलवर ( सिलीसेड़ ) आदि स्थानों की सुन्दर छत्रियाँ और राजस्थान के स्मारक-स्तम्भों जैसे यूप-

स्तम्भ, गोवर्धन-स्तम्भ और चित्तौड़गढ़ के दो विश्व विख्यात कीर्तिस्तम्भों का अध्ययन है।

यह दृष्टव्य है कि स्थापत्य का इतना विशाल और विविध भण्डार भारत के किसी अन्य प्रदेश में नहीं हैं। यहाँ ६ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी ई० तक बने। प्राचीन परम्पराओं के प्रतीक हजारों मन्दिर, सैकड़ों महल, हवेलियाँ, छत्रियाँ, स्मारक-स्तम्भ, वावड़ियाँ और कुण्ड और वीसियों दुर्ग, नगर, वाग, बाँध और सरोवर हैं तमिलनाद में राजस्थान से अधिक मन्दिर हो सकते हैं किन्तु वहाँ न दुर्ग हैं, न महल, न छत्रियाँ न वावड़ियाँ, न राजसमन्द न कीर्तिस्तम्भ। इस प्रदेश की यह सांस्कृतिक निधि अद्वितीय और अतुलनीय है।

### मन्दिर-स्थापत्य

मन्दिर ( प्रासाद ) वनवाने के उद्देश्य के विषय में १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भुवनदेवाचार्य के प्रख्यात वास्तुशास्त्रीय-ग्रन्थ 'अपराजितपृच्छा' की यह उक्ति वड़ी सार गर्भित है :—

"सुरालय विभूत्यर्थं भूषणार्थं पुरस्य तु।
नराणां भुक्तिमुक्त्यर्थं सत्यार्थं चैव सर्वदा॥

लोकानां धर्महेतुश्च क्रीड़ाहेतुश्च स्वर्भुवाम्।
कीर्तिरायुर्यशोऽर्थं च राज्ञां कल्याणकारकः॥"

( 115. 3-4 )

( नगर की शोभा और विभुति के लिये, जन जन को निरन्तर सत्य और मुक्ति की प्रेरणा के लिये ; लोक धर्म के प्रतीक स्वरूप ; कीर्ति आयु और यश की वृद्धि के लिये और जनपद के कल्याण के लिये मन्दिर का निर्माण किया जाता है। )

इसमें बहुत सी सद्भावनाओं की ओर संकेत किया गया है। मन्दिर नगर की शोभा है। यह निर्माणकर्त्ता के जीवन में यश और मरणोपरान्त कीर्ति देता है। किन्तु मूल रूप से मन्दिर लोकधर्म से सम्वन्ध है। इसका विकास भक्ति के प्रतीक स्वरूप ही लगभग गुप्तकाल से आरंभ हुआ। यह खुले हुए वज्रासन और वोधिमण्ड पर चतुरास्त्र योजना पर पत्थरों की दीवारें उठाकर वना। इसे समतल शिलापटों द्वारा ढका गया। जगती ज्यों की त्यों रही, गन्धकुटी गर्भगृह वन गयी। धीरे धीरे उसके सम्मुख दो खम्भों पर आधारित

मण्डप अथवा मुखालिन्द जुड़ गया ( चित्र-1 )। धीरे-धीरे शिखर ने ऊपर उठना आरंभ किया। गुप्तकाल से लेकर 10वीं शताब्दी तक भव्य शिखर का
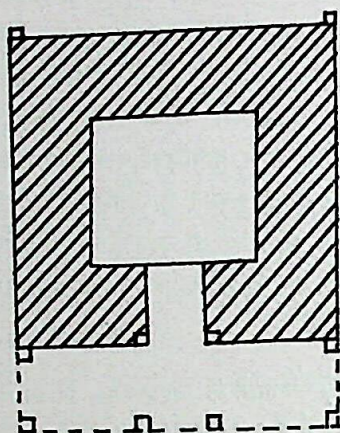
चित्र—1

विकास हुआ जो मन्दिर का सर्वाधिक विशिष्ट तत्व बन गया। कालान्तर में मूलतः शिखर के भेद से ही मन्दिर की जातियाँ, श्रेणियाँ और शैलियाँ बनीं।

मन्दिर को देवगृह, देवालय, देवतायतन, देवभवन, सुरालय, प्रासाद, मेरू, मन्दर, कैलाश आदि विभिन्न नामों से विभूषित किया गया। वास्तव में इसके कलेवर में इष्ट-देव के साकार-रूप की कल्पना की गयी और इसीलिये मन्दिर के भागों का मानव-शरीर के अंगों जैसा ही नामकरण किया गया ; जैसे चरण, पद, जङ्घा, उरु, कटि, बाहु, स्कन्ध, पार्श्व, कण्ठ, ग्रीवा, मुख, नासिका, कर्ण, मस्तक, तिलक, शीर्ष, शिखर आदि आदि। मानव-शरीर जैसा ही मन्दिर का निर्माण विधान पूर्णतया सन्तुलित, समानुपातित और व्यवस्थित हुआ और शास्त्र ने इसका सूक्ष्म विवेचन किया। इसीलिये मन्दिर का एक नाम 'विमान' है अर्थात् मान प्रमाणों द्वारा इसके तलच्छन्द और ऊर्ध्वच्छन्द में सूक्ष्मतम सन्तुलन प्रतिष्ठित किया गया है। मन्दिर की कला और उसके अद्भुत सौन्दर्य का यही भेद है। दुर्भाग्य है कि लोहे-सीमेण्ट से मन्दिर बनवाने वाले आज के निर्माणकर्त्ता शास्त्रोक्त-विधि और मान प्रमाणों के इस रहस्य को नहीं समझते और ये देवता का घर नहीं, घरौंदा बनाते हैं।

जगती के ऊपर ऊर्ध्वच्छन्द में मन्दिर के तीन मूल भाग हैं :—

(1) पीठ अथवा अधिष्ठान

(2) मण्डोवर और (3) शिखर।

चित्र—2 ( मंदिर पीठ )
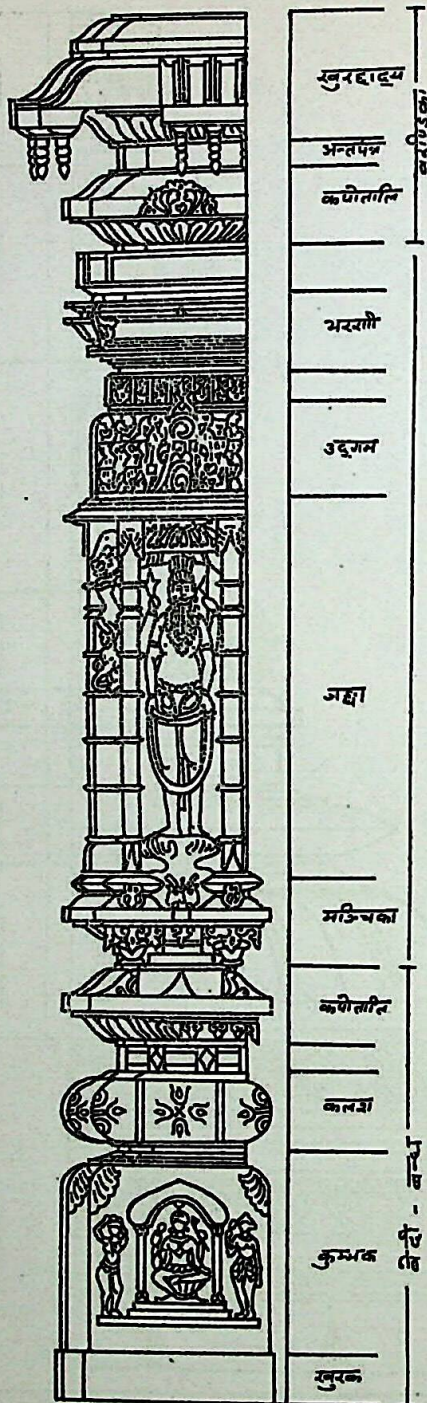
चित्र—3 (मंदिर मंडोवर)

पीठ के कई भाग होते हैं—जाड्यकुम्भ, कर्णक, अन्तंपत्र, कपोतिका, ग्रासपट्टी आदि (चित्र-2)। ग्रासपट्टी में कीर्तिमुखों की एक सुन्दर शृङ्खला गर्भ-गृह के तीनों ओर घूमती है। इसके ऊपर गजथर, अश्वथर, नरथर आदि अन्य शृङ्खलाएँ हो सकती हैं। यह मन्दिर के स्वरूप और आकार पर निर्भर है। मण्डोवर के तीन भाग होते हैं। वेदीवन्ध, जङ्घा और वरण्डिका (चित्र-3)। शास्त्रोक्त देवी-देवताओं का और रूचिमय नृत्य और काम मुद्राओं में देवाङ्गनाओं का प्रदर्शन जङ्घा भाग पर होता है। शिखर (चित्र-4)
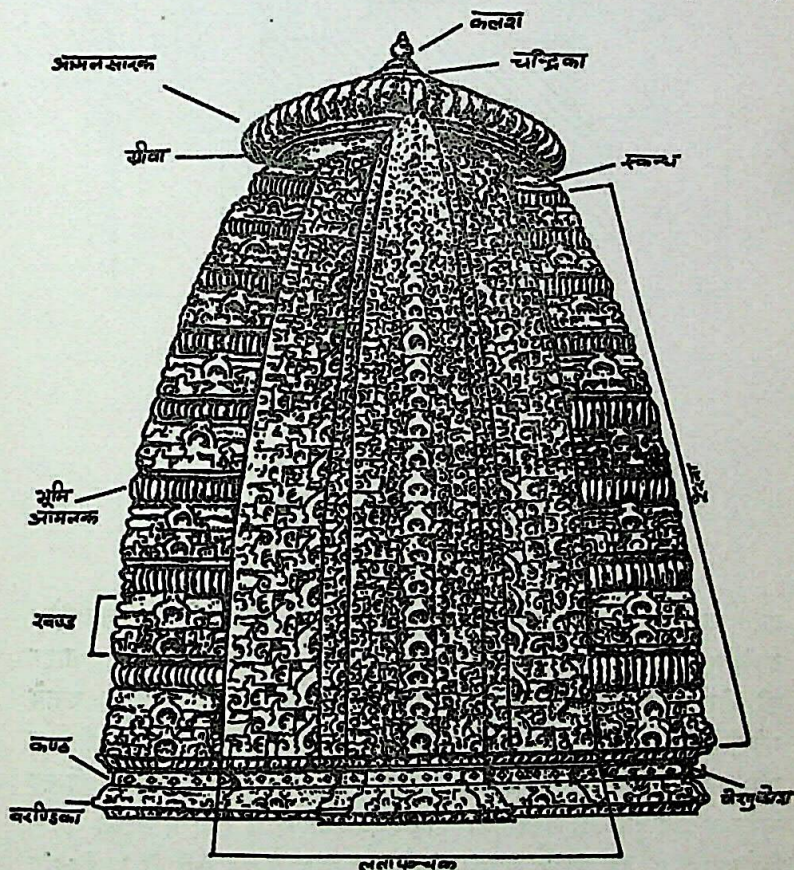
चित्र—4 ( मंदिर-लतिन शिखर )

के भी कई भाग होते हैं और इसके शीर्ष पर आमल सारिका, स्तूपिका, चन्द्रिका, कलश आदि विविध रूप से अलंकृत किये जाते हैं। यह सब विकास

धार्मिक प्रतीक-स्वरूप तो हुआ ही, मन्दिर स्थापत्य-कला भी इससे अविच्छिन्न-रूप से जुड़ी रही है। कुछ अंशों में यह कला का विकास अधिक है, धार्मिक प्रतीकों का कम।

तलच्छन्द पर भी मन्दिर का वृहत विकास हुआ। गर्भगृह के सम्मुख मुखालिन्द जुड़ा ( चित्र-5 )। उसके चारो ओर प्रदक्षिणापथ बना। धीरे-धीरे
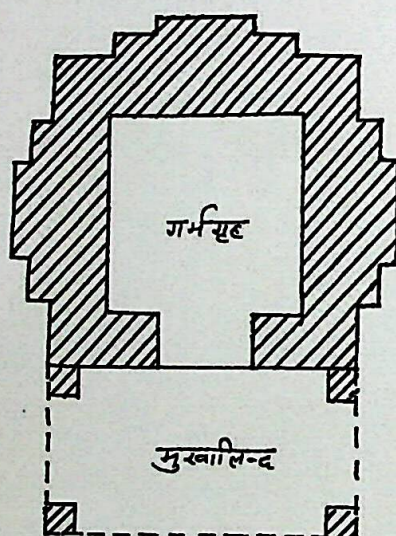
चित्र—5

इससे मण्डप, सभा मण्डप अथवा रङ्ग मण्डप और महा मण्डप जुड़ गये (चित्र-6)। इसके मुख पर मुख चतुस्की बनी जिस पर तोरगा द्वारा साजसज्जा हुई। बाहर की ओर इस आयत की दोनों लम्ब बाहुओं पर विविध रूप से कोण बनाये गये जिससे प्रकाश और छाया का अद्भूत प्रभाव उत्पन्न हुआ। विविध प्रतिमाओं और मूर्तियों के प्रदर्शन के लिये स्थान मिला और मन्दिर को वह व्यक्तित्व प्राप्त हुआ जो संसार की उत्कृष्टतम स्थापत्य शैलियों में उसकी अपनी विशेषता है। इस प्रकार द्वि-अंग ( जब भद्र के साथ एक कर्ण हो ), त्रि-अंग ( जब एक प्रतिरथ भद्र और कर्ण के बीच में हो ), चतुराङ्ग ( जब एक नन्दिका भद्र और प्रतिरथ के बीच में हो ), आदि आदि विविध प्रकार से मन्दिर का रूप सँजोया गया।
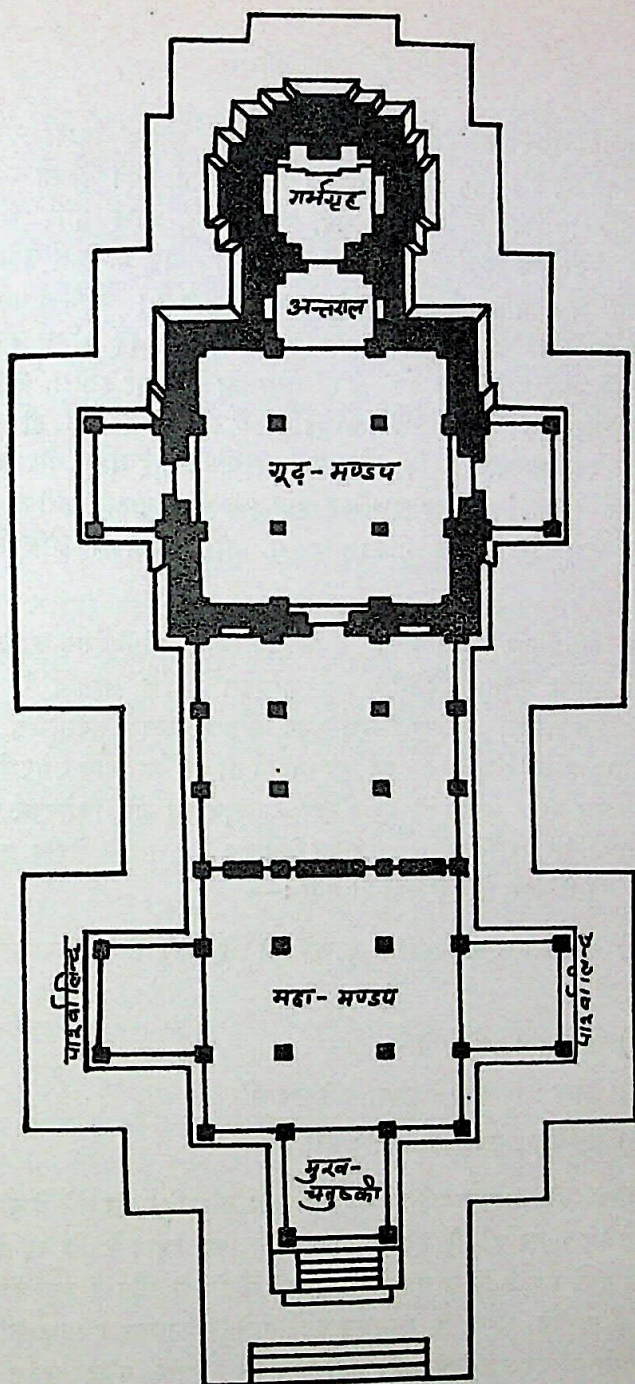
चित्र—6 ( मंदिर तल दर्शन )

भारतीय मन्दिर की धर्म के आधार पर जातियाँ, श्रेणियाँ अथवा शैलियाँ बनाना अनुचित है। धर्म से अनुप्राणित होते हुए भी इसमें विभिन्न धर्मों के लिये स्थापत्यीय भेद नहीं है। जैन, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त आदि विभिन्न धर्मों के मन्दिर एक ही शैली पर बने। अवश्य ही उनमें प्रतिमाएँ उसी धर्म की लगीं और प्रतिमा-भेद से ही वे पहचाने जाते हैं। ओसियाँ नाडौल-नाडलार आदि में एक ही परम्परा और एक ही शैली में बने विभिन्न धर्मों के मन्दिरों के उदाहरण देखे जा सकते हैं। राजस्थान से बाहर इलौरा, खजुराहो आदि बड़े-बड़े केन्द्रों पर जैन, शैव, वैष्णव गुफाऐं और मन्दिर एक ही शैली में बने। यह स्मरणीय है कि जैन स्थापत्य जैसी कोई अलग और विशिष्ट स्थापत्य-शैली नहीं है और यह अत्यधिक उत्साह के परिणाम-स्वरूप बोया गया विद्वानों का भ्रम है। केवल प्रतिमा-भेद से विशिष्ट स्थापत्य शैलियाँ नहीं बनती।

इस विषय पर वास्तु-शास्त्रों का विवेचन हमारा पथ-निर्देशन करता है। गुप्तकालीन ग्रन्थ 'बृहत्-संहिता' में 'प्रासाद-लक्षण' शीर्षक अध्याय में बीस प्रकार के मन्दिरों का उल्लेख है—जैसे मेरु, कैलाश, नन्दन, सर्वतोभद्र, सिंह, वृत्त, चतुष्कोण आदि आदि। यह विभाजन न तो धार्मिक आधार पर है, न क्षेत्रीय आधार पर। स्पष्ट ही यह मन्दिर के सम्पूर्ण रूप और विशेषकर उसके शिखर के आधार पर किया गया शैलीगत विभाजन है। बाद में क्षेत्रीय आधार पर मोटे रूप से चार श्रेणियाँ बना दी गयीं :—

(1) नागर : उत्तर-भारतीय शाखा जो हिमालय से विन्ध्याचल तक प्रचलित थी ;

(2) कलिङ्ग : उड़ीसा में ;

(3) वेसर : विन्ध्या से कृष्णा नदी तक और

(4) द्राविड़ : कृष्णा से कन्याकुमारी तक।

कलिङ्ग को कभी कभी नागर के साथ सम्मिलित कर लेते थे क्योंकि मूलरूप से यह नागर की ही एक उपशाखा थी। यह दृष्टव्य है कि यह क्षेत्रीय विभाजन मोटे रूप से किया गया था। इसकी भौगोलिक सीमाऐं अनुल्लंघनीय नहीं थी। द्राविड़ शाखा के अन्तर्गत बनने वाले आयताकार गजपृष्ठाकृति के शिखर वाले मन्दिर ग्वालियर और उड़ीसा में बने। नागर मन्दिर कुर्नूल तक पहुँच गये।

भोजकृत 11 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रचित 'समराङ्गण-सूत्रधार' वास्तु-शास्त्र का महान् ग्रन्थ है। इसमें सैकड़ों प्रकार के मन्दिरों का विवेचन है जिनका विभाजन शैली के आधार पर हुआ है। 16 वीं शताब्दी के प्रख्यात ग्रंथ 'शिल्प-रत्न' के विवेचन के अनुसार नागर पीठ से शिखर तक चतुरास्त्र होता है। द्राविड़ नीचे से चतुरास्त्र किन्तु शिखर पर षट् अथवा अष्टबाहु होता है और वेसर वृत्ताकार है। अधिकांशतः शृङ्गों और उरुशृङ्गों सहित शिखर के आधार पर ही श्रेणियाँ बनी। मध्यकाल तक आठ प्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण मन्दिर शैलियों का विकास हो चुका था :—

"नागराद्राविड़ाश्चैव भूमिजा लतिनस्तथा।
सांधाराश्च विमानाश्च निभ्रूकाः पुष्पकान्विता॥
एते चाष्टौ शुभा ज्ञेयाः शुद्धच्छंदाः प्रकीर्तिताः।
देश-जाति-कुल - स्थान - वर्ण भेदैरुपस्थिताः॥"

( नागर, द्राविड़, भूमिज, लतिन, सान्धार, विमान, निभ्रूक और पुस्तक— ये आठ प्रकार के शुभ और शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध और कीर्तिदायक मंदिर होते हैं। ये देश, जाति, कुल, स्थान, वर्ण आदि के भेद से वर्णित किये गये हैं। ) यह दृष्टव्य है कि भूमिज और लतिन नागर शाखा के अन्तर्गत ही आते हैं। शिखर के भेद से वे पृथक्-पृथक् वर्णित किये गये हैं। प्रदक्षिणा-पथ ( अन्धारिका अथवा भ्रमन्तिका ) सहित मंदिर को सान्धार प्रासाद कहते हैं और नागर के अन्तर्गत ही लतिन और भूमिज शैली के मंदिर भी सान्धार होते हैं। जैसे राजपूत चित्र-कला में ढूँढार, मारवाड़, मेवाड़ आदि शैलियाँ मोटे रूप राजपूत ( अथवा राजस्थानी ) होते हुए भी सूक्ष्म विभेदों के कारण पृथक् शैलियाँ मानी जाती हैं। वैसे ही नागर स्थापत्य की ये पृथक् शैलियाँ वर्णित की गयी हैं।

राजस्थान के मन्दिर नागर शाखा के अन्तर्गत आते हैं। उनके शिखर अधिकांशतः लतिन हैं या भूमिज। ये मन्दिर सान्धार भी हैं और निरन्धार भी—अर्थात् गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ किन्हीं मन्दिरों में है और किन्हीं में नहीं है।

इस सन्दर्भ में शास्त्र का उल्लेख बड़ा आवश्यक है। उपर्युक्त ग्रन्थ 'अपराजितपृच्छा' पश्चिमी भारत का सर्वाधिक प्रख्यात वास्तु-शास्त्र है। इसका संकलन 12 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मरु-गुर्जर प्रदेश अर्थात्

राजस्थान-गुजरात में हुआ। यह स्मरणीय है कि किसी कला का शास्त्रीय-करण कई शताब्दियों के प्रयोग, अभ्यास और व्यवहार के पश्चात् ही होता है जब विधाएँ अपने चरमोत्कर्ष तक विकसित हो जाती हैं। अर्थात् राजस्थान-गुजरात में गुप्तकाल के पश्चात् स्थापत्य कला का जो प्रयोग, अभ्यास और व्यवहार लगभग छै सात शताब्दियों तक हुआ उसी के श्रेष्ठतम आदर्श और मानदण्ड 'अपराजितपृच्छा' में लिपिवद्ध किये गये।

15 वीं शताब्दी में वास्तु-शास्त्र के परिष्कृत और परिमार्जित रूप के संकलन की आवश्यकता फिर अनुभव हुई और कुम्भा के आश्रय में मेवाड़ में बड़े व्यापक स्तर पर शास्त्र लिपिवद्ध हुए। कुम्भा के स्थपति मण्डन ने 'प्रासाद-मण्डन' (जो मन्दिर-स्थापत्य का ग्रन्थ है), 'राज-वल्लभ' (जो नगर-निवेश पर है), 'देवता-मूर्ति-प्रकरण' जो प्रतिमा-शास्त्र का ग्रन्थ है, 'रूप-मण्डल' इसी का एक भाग है, 'वास्तु-मण्डन' (जिसे 'वास्तु-शास्त्र' और 'वास्तु-सार' भी कहते हैं) आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों का संकलन किया। उसके भाई नाथ ने 'वस्तु-मञ्जरी' लिखी। मण्डन के पुत्र गोविन्द ने 'उद्धार-धोरिणी', 'कलानिधि' और 'द्वार-दीपिका' नामक ग्रन्थ लिखे। स्वयं कुम्भा ने अद्भुत संगीत-ग्रन्थ 'संगीत-राज' की तरह कीर्त्तिस्तम्भों के स्थापत्य पर एक वास्तु-शास्त्र संकलित किया और उसे शिलाओं पर खुदवाकर कीर्तिस्तम्भ की जगती के चारो ओर लगवा दिया। पहली शिला का कुछ भाग मिल गया है। इससे पता चलता है कि कला के इस सम्पूर्ण व्यवहार का आधार शास्त्र था और इस शास्त्र को भारतीय आचार्य निरन्तर परिमार्जित करते रहते थे। दुर्भाग्य का विषय है कि स्वतन्त्रता के पश्चात हमारी कलाओं का सम्बन्ध शास्त्र से टूट गया है और पेड़ से गिरे पत्ते की तरह हमारा कलाकार हवा के झोंकों के साथ उड़ रहा है।

अनुमान है कि 'क्षीरार्णव' 'दीपार्णव' और 'वृधार्णव' जैसे वृहत् वास्तु-ग्रन्थ भी राजस्थान में ही रचे गये। 'वृधार्णव' में 'रहमाण-प्रासाद' अध्याय के अन्तर्गत मुसलमानों का आराधना स्थल मस्जिद बनाने की विधि बतायी गयी, जैसे विष्णु-प्रासाद, शिव-प्रासाद, सूर्य-प्रासाद और जिन-प्रासाद का वर्णन हुआ उसी प्रकार, कणभर भी विद्वेष के बिना, 'रहमाण-प्रासाद' (अल्लाह का मन्दिर) के निर्माण के सम्बन्ध में निर्देश दिये गये।

जैसे काश्मीर संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के लिये विख्यात था, वैसे ही राज-स्थान वास्तु-ग्रन्थों के लिये विख्यात हुआ। शास्त्र ही नहीं, यहाँ से स्थपति,

सूत्रधार और अन्य कलाकार सारे भारत वर्ष में निर्माण कार्य के लिये जाते रहे। फतेहपुर सीकरी के कारीगर अधिकांशतः राजस्थानी थे या गुजराती। आज इन राजस्थानी कारीगरों के वंशजों को दिल्ली महानगर में सीमेण्ट की गगनचुम्बी इमारतों में साधारण बेलदारी करते देख कर हृदय आर्द्र हो जाता है।

राजस्थान में गुप्तकालीन स्थापत्यीय अवशेष अब उपलब्ध नहीं है। इधर उधर ( जैसे चित्तौर दुर्ग में ) उनके जो खण्डहर बिखरे हुए हैं वे पहचाने नहीं जाते और उनका शैलीगत अध्ययन अभी सम्भव नहीं है। बूँदी के समीप कैसोरापुर का ईंट का ध्वस्त जैन मन्दिर लगभग ५ वीं शताब्दी ई० का होगा। चित्तौड़ गढ़ के ईंट के वैष्णव मन्दिर का 10 वीं 11 वीं शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ, अब केवल शिखर का कुछ भाग ही मूल है। यह 6 वीं शताब्दी का प्रतीत होता है। मेवाड़ में ही चित्तौड़ के समीप धमाणा का ईंट का मन्दिर भी लगभग इसी काल का है। सातवीं शताब्दी से हमें ये अवशेष अधिक व्यवस्थित रूप से मिलने आरंभ हो जाते हैं।

झालावाड़ के समीप **झालरापाटन** अत्यन्त प्राचीन स्थल है। यहाँ चन्द्रभागा नदी के किनारे चन्द्रावती नगरी बसी थी। उसके प्राचीन मन्दिरों के बहुत से खण्डहर अवशिष्ट हैं। उनमें शीतलेश्वर महादेव मन्दिर प्रमुख है जो अनुमानतः 7 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बना। इस प्रकार यह राजस्थान के प्रारम्भिक मन्दिरों में से है। पीले पत्थर से बने इस मन्दिर का अब केवल मूल-प्रासाद ही अपने मूल-रूप में शेष है, उसके ऊपर गुम्बद भी आधुनिक है। मूल प्रासाद के साथ सम्बद्ध अन्तराल ( मुखालिन्द ) भी मूल है जिसका परिचय उसकी द्वार शाखा से होता है। इसपर गंगा-यमुना के आकल्पन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गुप्तकाल से अधिक दूर नहीं है। इसके सम्मुख बना मण्डप 8 वीं शताब्दी का है जिसके चतुरास्त्र खम्भों पर अत्यन्त सुन्दर घट पल्लव, कीर्तिमुख और लहर वल्लरी के विविध रूपांकन उत्कीर्ण हैं। ये उसी उत्कृष्ट और कमनीय अलंकरण-कला का स्मरण कराते हैं जिसका आरम्भ और विकास गुप्त-काल में ( चौथी शताब्दी के आरम्भ से छठी शताब्दी के मध्य तक ) हुआ। यह स्मरणीय है कि घटपल्लव ( चित्र-7 ), कीर्तिमुख ( चित्र 8 ) और लहरवल्लरी ( चित्र 9, 10, 11 ) ये तीनों ही रूपांकन राजस्थान के मन्दिरों में अलंकरण के लिये बहुत व्यापक स्तर पर प्रयुक्त हुए हैं।

चित्र—7 ( हाट पल्लव )

चित्र—8 ( कीर्तिमुख )
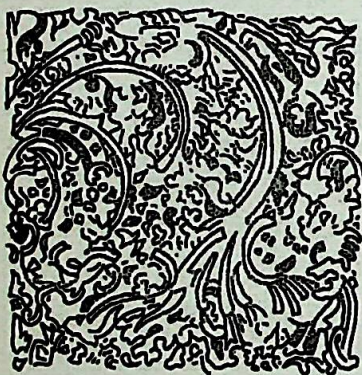
चित्र—10 ( लहरवल्लरी )
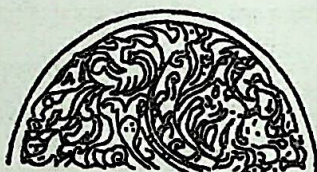
चित्र—9 ( लहरवल्लरी )

चित्र—11 ( लहरवल्लरी )

कुसुमा का रामचन्द्र का मन्दिर 7 वीं शताब्दी के मध्य में शीतलेश्वर के लगभग समकालीन ही बना। यह अर्बुदमण्डल के अन्तर्गत सिरोही में महत्वपूर्ण स्थल वर्मन के समीप स्थित है। वैसे यहाँ कई मन्दिर हैं किन्तु रामचन्द्र का मन्दिर प्रमुख है। इसका बार-बार जीर्णोद्धार हुआ और परिणाम-स्वरूप इसका मूल रूप लगभग लुप्त हो गया है। यह सान्धार प्रासाद था जिसके प्रदक्षिणापथ में खुले हुए कक्षासन दिये गये थे। इसके सम्मुख एक गूढ़-मण्डप था। खम्भों पर झालरापाटन के शीतलेश्वर मन्दिर की तरह अत्यन्त सुन्दर अलंकरण हुआ है जिसमें उस काल की कला परम्परा के अनुसार घटपल्लव, कीर्तिमुख और लहर वल्लरी रूपांकन प्रमुख हैं। ये सभी कमनीय रूप से पत्थर में उत्कीर्ण हैं।

चित्तौड़गढ़ में इसी कला शैली में दो मन्दिर 8वीं शताब्दी में बने। एक शिलालेख के अनुसार राजा मानभंग ने ये दो मन्दिर क्रमशः सूर्य और शिव के लिये बनवाये थे। कालान्तर में इनके रूप बदल गये। सूर्य का मन्दिर आजकल कालिका माता का मन्दिर कहलाता है। इसका बहुत कुछ मूल भाग शेष रह गया है। गर्भगृह के तीनों ओर एक प्रदक्षिणापथ है जिसमें खुले हुए वातायनों द्वारा यथेष्ट वायु और प्रकाश की व्यवस्था है। यह आरम्भिक शैली के अनुसार अपेक्षाकृत बहुत सादा है, केवल सूर्य और अन्य देवताओं की प्रतिमाओं से ही अलंकरण हुआ है। किन्तु अन्तराल और मण्डप के खम्भों को विविध रूपांकनों से बड़ी सुरुचि से सजाया गया है। कीर्तिमुख, घटपल्लव और लहरवल्लरी के अत्यन्त उत्कृष्ट रूप खम्भों पर उत्कीर्ण हैं। यह इस काल की स्थापत्य शैली की विशेषता है। आयताकार मण्डप और पार्श्वालिन्दों के समतल वितानों पर सुन्दर आकृतियाँ उकेरी गयी हैं। उनमें जीवन की विविधता प्रदर्शित है। गुप्तकाल की माँसलता यहाँ भी स्पष्ट झलकती है। कुछ अंशों में यह कला ओसियाँ को मात करती है।

मानभंग के शिव मन्दिर का 15वीं शताब्दी में कुम्भा ने पूर्ण जीर्णोद्धार कराया। अब उसकी पीठ, गर्भगृह, मण्डप के कुछ खम्भे और वितान ही मूल हैं, शेष सब कुम्भाकालीन हैं। शिखर भी मूल नहीं है। कुम्भा के स्वामी विष्णु को समर्पित यही 'कुम्भस्वामी' का मन्दिर है, जिसे भूल से 'कुम्भश्याम' का मन्दिर भी कहते हैं। इसके विशाल सभा मण्डप में 20 खम्भे दुहैरे क्रम से आयताकार योजना के अनुसार लगे हैं। स्पष्ट ही यह मूल रचना नहीं है। कुछ खम्भे मूल हैं, अन्यथा सब परवर्ती हैं। कुछ सोलंकी कला से प्रभावित 11वीं-12वीं शताब्दी के हैं। लगता है, कुम्भा ने जब इसका जीर्णोद्धार कराना

आरंभ किया तो चित्तौड़गढ़ में सैकड़ों मन्दिरो के अवशेष पड़े होंगे। उनमें मूर्तियों वाले भाग तो क्षत-विक्षत होंगे, किन्तु साधारण अलंकरण के अवशेष ठीक स्थिति में होंगे। उन्हें ही फिर से उपयोग कर लिया गया है। यह दृष्टव्य है कि सोलंकी कालीन कुछ उत्कृष्ट खम्भे 'समाधीश्वर' शिवमन्दिर में भी लगे हैं ( इसे गलती से समिद्धेश्वर मन्दिर कहते हैं ) और ऐसे ही चार खम्भे कीर्तिस्तम्भ के आठवें खण्ड में प्रयुक्त हुए हैं। 'कुम्भस्वामी' का रचना विधान ही नहीं, सम्पूर्ण अलंकरण भी कालिकामाता मन्दिर के अनुरूप है और मूल रूप से दोनों समकालीन बने, इसमें सन्देह नहीं है।

**कंसुआ** का शिव-मन्दिर कोटा जिले में है। यह 738 ई० में बना। अब खँडहर-मात्र रह गया है। इसकी शैली में भी झालरापाटन के शीतलेश्वर मन्दिर की कला की झलक मिलती है और यह भी राजस्थान के प्रारम्भिक मन्दिरों में से है।

आठवीं शताब्दी में जालौर और माण्डौर में प्रतिहारों के अभ्युदय से मन्दिर-स्थापत्य को एक नया संरक्षण, नई प्रेरणा और नयी दिशा मिली। व्यापक स्तर पर मन्दिर-निर्माण का कार्य आरंभ हुआ, जिसके प्रमाण ओसियाँ, माण्डौर, चित्तौड़, लाम्बा, आबानेरी, केकींण, घटियाला, भीनमाल आदि आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं। यह निर्माण-कार्य 9वीं-10वीं शताब्दी में भी चला और बाडौली, बुचकला, अम्बियाँ, दौला, कल्याणपुर, फलौदी, वैसाखी आदि में बड़े सुन्दर मन्दिर बने। इस शैली को 'महामारु' का नाम दिया गया है। 10-11वीं शताब्दी में इसी का सर्वोत्कृष्ट रूप सीकर के हर्षनाथ महादेव मन्दिर, जगत के अम्बिका माता मन्दिर, मुँगथला के मधुसूदन मन्दिर, नाडौल-नाडलाइ, किराड़, आदि के मन्दिरों में प्रदर्शित हुआ।

**लाम्बा** जेटारन और जोधपुर के बीच में स्थित है। जैसे गुलाबी रंग के बालुकाश्म पत्थर का प्रयोग ओसियाँ में हुआ वैसे ही पत्थर से यह मन्दिर 8वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बना। मूल प्रासाद एक विस्तृत जगती पर स्थित है। गर्भगृह के तीन ओर प्रदक्षिणापथ है। इसके सम्मुख अन्तराल और मण्डप हैं। मण्डप में प्रवेश एक सुन्दर मुख चतुष्की द्वारा होता है। खम्भों और वितानों की साजसज्जा भी प्रभावशाली है। वास्तव में गुप्तकाल की विकास परम्परा में ही इस मन्दिर का अलंकरण हुआ है। विशेष रूप से इसमें विविध प्रकार के कीर्तिमुख और लहरवल्लरी के रूपांकन बने हैं जो अत्यन्त सुन्दर हैं। ये चित्तौड़ के कालिकामाता के मन्दिर की कला का स्मरण कराते हैं। इन रूपांकनों की

पुनरावृत्ति और विविधता में एक ऐसा सुन्दर तालमेल रखा गया है कि कहीं भी नीरसता नहीं होती। यह इस अलंकरण कला का रहस्य है।

**आबानेरी** का हर्षत माता मन्दिर भी 8 वीं शताब्दी का है। यह जयपुर जिले में स्थित है। अब इसका केवल मूल प्रासाद ही शेष रह गया है, शेष सब लगभग नष्ट हो गया है। यह सान्धार प्रासाद था और जैसा इसके वैष्णव लाञ्छनों से प्रकट होता है, मूल रुप से यह विष्णुमन्दिर था। इसमें मूर्ति-कला का अद्‌भुत प्रदर्शन हुआ है। नृत्यमुद्रा में उत्कीर्ण कुछ देवाङ्गनाऐं तो अद्वितीय हैं। गवाक्ष-कीर्तिमुख, घटपल्लव और लहर वल्लरी—ये तीनों परम्परागत रूपांकन यहाँ अत्यन्त प्रभावशाली ढँग से प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तव में ये तीनों रूपांकन 7 वीं 8 वीं शताब्दी की मन्दिर-कला के विशिष्ठ तत्व थे। इतनी सुन्दर साज-सज्जा होते हुए भी स्थापत्यीय प्रभाव दबने नहीं दिया गया है। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण प्रभाव स्थापत्य का ही है, अलंकरण गौण और पूरक-मात्र है। ईरानी स्थापत्य की तरह भारतीय मन्दिर स्थापत्य केवल आकल्पन (डिजाइन) मात्र नहीं है। उसका अपना कलेवर और अपनी आत्मा है। राजस्थान के इन मन्दिरों में यह तथ्य स्पष्ट परिलक्षित होता है।

**कैकींण** का नीलकण्ठेश्वर शिव मन्दिर भी 8 वीं शताब्दी का है। यह प्रमुख जैन और शैव धार्मिक स्थल था। पूर्वाभिमुख यह मन्दिर निरन्धार है अर्थात् इसमें प्रदक्षिणापथ नहीं है। मूल प्रासाद के सम्मुख परम्परागत मण्डप और फिर मुख-चतुष्की हैं। प्रतिहारकालीन मन्दिरों की तरह इसकी रचना भी गुलाबी और लाल बालुकाश्म पत्थर से हुई है। मूल प्रासाद पर लतिन शिखर आच्छादित है। मन्दिर त्रि-अंग है। मण्डोवर की जङ्घा पर देवी-देवताओं और देवाङ्गनाओं की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। इनकी पुनरावृत्ति से नीरसता न हो इसलिये उनके साथ क्रम से विविध रूपों के शार्दूल दिये गये हैं। यह मन्दिर में अलंकरण के लिये प्रयुक्त भारतीय मूर्तिकला की नीरसता बचाने के लिए परम्परागत उपाय था। विविध प्रकार केगणों और विकृत-आकृतियों का प्रयोग भी बहुधा इसी उद्देश्य से होता था। मन्दिर की अधिकांश मूर्तियाँ टूट गयी हैं किन्तु उनकी उत्कृष्ट कला का आभास अब भी होता है। अलंकरण के वही तीनों रूपांकन—कीर्तिमुख, घटपल्लव और लहर वल्लरी यहाँ भी विविध रूपों में प्रदर्शित किये गये हैं। मण्डप का कमलाकार वितान भी इस मन्दिर की कला की एक विशेषता है। वेदिका के आसन पट्ट और कक्षासन बड़ी सुन्दरता से सम्पूर्ण रूपरेखा में सँजोये गये थे। कुल

मिलाकर यह मन्दिर 8 वीं शताब्दी के राजस्थान की मन्दिर-कला का प्रतिनिधित्व करता है।

विश्वविख्यात ओसियाँ के मन्दिर जोधपुर के समीप स्थित है। इनका निर्माण दो कालों में हुआ। 8 वीं 9 वीं और 11 वीं 12 वीं शताब्दी में। यहाँ जैन, शैव और वैष्णव सभी धर्मों के लगभग 16 मन्दिर शेष हैं। प्रतिहार कालीन स्थापत्य का ओसियाँ सर्वोत्कृष्ट स्थल है। ये मन्दिर एक ऊँची जगती पर स्थित है जिसकी रथिकाओं में देवता सुशोभित किये गये हैं। कुछ मन्दिर पंचायतन हैं अर्थात् मुख्य प्रासाद जगती के मध्य में और चार देवकुलिकाएँ चारों कोनों पर स्थित हैं। इनमें देवताओं, गणों, दिक्पालों और देवाङ्गनाओं की मूर्तियों से अद्भुत अलंकरण हुआ है। मण्डप और मुखचतुष्की का विन्यास अब प्रासाद का अभिन्न अंग बन गया था। मूल प्रासाद पर लतिन, जालक, शिखर आच्छादित है। यह सब बड़ी सुन्दर और प्रभाव शाली रचना है।

ओसियाँ के आरम्भिक मन्दिर 8 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बने। इनमें महावीर मन्दिर विशिष्ट है। मूल रूप से यह सान्धार प्रासाद था अर्थात गर्भगृह के तीनों ओर प्रदक्षिणापथ, अन्तराल, गूढ़मण्डप, मण्डप और मुखचतुष्की थे। कालान्तर में इसका बार-बार जीर्णोद्धार हुआ। अब केवल गर्भगृह ही मूल रह गया है। शिखर भी मध्यकालीन है। मूल-प्रासाद त्रि अंग है जिस पर भव्य लतिन शिखर सुशोभित है। गूढ़मण्डप पर फाँसना छत है। जंघा पर रथिकाओं में देवता विराजमान हैं। यहाँ भी बड़े सुन्दर घटपल्लव और लहर-वल्लरी उत्कीर्ण हैं। मुखमण्डप के सम्मुख एक सुन्दर तोरण है जो ओसियाँ की कला का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी मूर्तिकला भी अनूठी है।

इस मन्दिर की चार देवकुलिकाएँ भी बड़ी सुन्दर हैं। वास्तव में इनमें से प्रत्येक एक पूर्ण मन्दिर है। अर्थात् लतिन शिखर सहित मूल-प्रासाद और उसके सम्मुख सम्वरण शिखर और छज्जे सहित मुख-मण्डप, ऊर्ध्वरेखा पर भिट्ट, जङ्घा आदि सभी भाग शास्त्रोक्त विधि से बनाये गये हैं। यह बड़ी सुन्दर कला है। इससे स्पष्ट होता है कि मन्दिर का 8 वीं शताब्दी तक पूर्ण विकास हो चुका था और अब उसका यह छोटा प्रतिरुप ( मॉडल ) बन सकता था। हरिहर मन्दिर, सूर्य मन्दिर आदि ओसियाँ के अन्य महत्त्वपूर्ण मन्दिर हैं।

सच्चिया माता का मन्दिर 12 वीं शताब्दी का है। यह सान्धार प्रासाद है और इसके सम्मुख एक विशाल सभा मण्डप है। इस मण्डप में आठ तोरण अत्यन्त आकर्षक वितान और वृक्षिका-मदल दिये गये हैं। यह बड़ी सुन्दर रचना

विधान है। यहाँ भी लतिन शिखर का उपयोग हुआ है। सम्पूर्ण ओसियाँ की कला में पद्म, घटपल्लव, कीर्तिमुख आदि रूपांकनों से अलंकरण हुआ है। पत्थर में विविध रूपांकण उत्कीर्ण करने की राजस्थान के कलाकार की क्षमता पर आश्चर्य होता है। लगता है वह पत्थर को मोम की तरह उकेर सकता था।

माण्डौर, घटियाला और भीनमाल में भी प्रतिहार कालीन मंदिरों के कुछ खंडहर शेष रह गये हैं। इनमें कुछ सुन्दर मूर्तियाँ विद्यमान हैं। चित्तौड़ के पास गंगरार का सूर्य-मंदिर भी लगभग 8 वीं शताब्दी का है। इसका जीर्णोद्धार 15 वीं शताब्दी में हुआ। दौला में भी प्रतिहारकालीन मंदिर है। उदयपुर के समीप कल्याणपुर का शिव मंदिर, मारवाड़ में फलौदी का माता मंदिर और जैसलमेर के समीप वैसाखी का भूतेश्वर महादेव मंदिर भी 8 वीं 9 वीं शताब्दी के हैं। मारवाड़ जंकशन के समीप स्थित आउवा का कामेश्वर शिव मंदिर 9 वीं शताब्दी का है। यह लाल पत्थर का वना है और पश्चिमाभिमुख है। इसमें भी मण्डप और मुखचतुस्की हैं। सुन्दर रूपांकनों से अलंकरण हुआ है। मारवाड़ प्रदेश में ही जोधपुर के समीप बुचकला नामक स्थान पर दो मंदिर हैं जो 9 वीं शताब्दी के प्रारंभ में वने। इनकी भी वही योजना-विन्यास है और लगभग वही अलंकरण। इनमें एक शैव था और दूसरा वैष्णव। आमेर ( जयपुर ) में भी एक प्रतिहार कालीन मंदिर अवशिष्ट है। एकलिङ्गजी में भी मंदिर-निर्माण इस काल में आरंभ हो गया था। अलवत्ता इन मंदिरों का बार-वार जीर्णोद्धार हुआ है और मूलरूप प्रायः शेष नहीं है। सिरोही जिले में वर्मन का सूर्य मंदिर 9 वीं शताब्दी के मध्य में वना। मूल-प्रासाद, प्रदक्षिणा-पथ, अन्तराल, गूढ़-मण्डप और मुख-चतुष्की आदि से इसका योजना विन्यास हुआ था। अब वह बहुत टूट-फूट गया है। छतें गिर गयी हैं। फिर भी प्राचीन भव्यता का आभास हो जाता है।

कोटा के समीप स्थित बाडौली के शिव मंदिर अधिक विख्यात हैं। ये 10 वीं शताब्दी के आरंभ के हैं। इनमें घाटेश्वर शिवमंदिर प्रमुख है। यह पञ्चाग योजना पर वना है और इसके अनुरूप ही इस पर लतिन शिखर चढ़ाया गया है। विशाल आमलक और कलश इसके शीर्ष पर सुशोभित हैं। मूल प्रासाद के सम्मुख मण्डप है। अर्थात रचना वही परंपरागत है। किन्तु इस मंदिर के अनुपात वड़े सुन्दर हैं। मण्डप में अत्यंत आकर्षक मकर-तोरण दिया गया है। खम्भों पर देवाङ्गनाओं का अंकन हुआ है। प्रासाद-कला के अन्य रूपांकन भी प्रदर्शित हैं।

तलदर्शन ऊर्ध्व रचना अलंकरण आदि एक सा होते हुए भी इन सैकड़ों मंदिरों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व है और कोई भी दो मंदिर एक से नहीं हैं जैसे हजारों सुन्दर स्त्री पुरुष में प्रत्येक का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व होता है और कोई दो एक से नहीं होते। यह विविधता भारतीय प्रासाद-कला का अद्‌भुत तत्व है।

सीकर के समीप हर्षनाथ पहाड़ी पर महादेव मंदिर स्थित है। अब यह टूट-फूट गया है। किन्तु मूल रूप में यह बहुत भव्य रहा होगा। इसमें गर्भ-गृह के सम्मुख अंतराल, मण्डप और मुख चतुस्की आदि रहे होंगे। मुख चतुस्की नष्ट हो गयी है। इसमें भी बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ लगी हैं। यह मंदिर 10 वीं शताब्दी ई० के उत्तरार्ध में बना।

नाडौल और नाडलाइ में भी बड़े सुन्दर देव-मंदिर हैं। नाडौल में 10 वीं शताब्दी में चौहानों के संरक्षण में मंदिरों का निर्माण हुआ। इनमें नीलकण्ठ-मंदिर, सोमेश्वर-मंदिर, चार भुजा-मंदिर आदि विख्यात हैं। नील-कण्ठ मंदिर का मूल प्रासाद त्रि-अंग है। इसका शिखर मूल नहीं है, बाद का है। जंघा आदि भाग सादा है और उनपर मूर्तियाँ नहीं हैं। अधिकांश अलंकरण गवाक्ष रूपों में हुआ है। सोमेश्वर-मंदिर में जंघा पर सुन्दर मूर्तियाँ अलंकृत हैं जिनमें देवाङ्गनाएं विशेष रूप से बड़ी आकर्षक हैं। नीलकण्ठ और सोमेश्वर दोनों ही निरंधार हैं; पहला पूर्वाभिमुख है, दूसरा पश्चिमाभिमुख। इनमें अधिकांश अलंकरण लहर वल्लरी, पद्म, गवाक्ष आदि रूपांकनों द्वारा हुआ है। चार भुजा का मंदिर वैष्णव है। यह 11 वीं शताब्दी का है। यह अपेक्षाकृत सादा है। इस पर भी जालक लतिन शिखर है।

नाडौल से कुछ दूर स्थित नाडलाइ में भी बड़े सुन्दर मंदिर हैं। ये नाडौल के बाद के हैं और कुछ सादा हैं। इनमें जैन मंदिर विशिष्ट हैं। उदाहरणार्थ तपेश्वर मंदिर इस शैली का प्रतिनिधित्व करता है। यह सान्धार प्रासाद है। गर्भगृह के सम्मुख अंतराल, चतुंस्तंभ-मण्डप और मुख चतुस्की हैं। इनमें वातायन संजोये गये हैं जिनके कक्षासन और आसनपट्टक बड़े भले लगते हैं। मूल-प्रासाद पर परम्परागत शिखर है। मण्डोवर सादा है। मण्डप के खंभों पर अवश्य ही सुन्दर अलंकरण हुआ है। इसमें घटपल्लव और लहरवल्लरी रूपांकन प्रमुख है। यह मंदिर 11 वीं शताब्दी के आरंभ में बना।

उदयपुर के समीप जगत का अम्बिका माता मंदिर 10 वीं शताब्दी का है। यह निरंधार प्रासाद है जिस पर लतिन शिखर विभूषित है। जङ्घा पर

देवी-देवताओं और देवांगनाओं की मूर्तियाँ अलंकृत हैं। गर्भगृह के सम्मुख गूढ़-मण्डप और फिर मुख-चतुस्की हैं जिस पर एक प्रभावशाली छज्जा और छत पर शुकनासा है। मेवाड़ का यह मंदिर भी बड़ा सुन्दर है और मध्यप्रदेश की मंदिर-कला के समरूप है।

उदयपुर के समीप **ऊनवास** का दुर्गामंदिर 10 वीं शताब्दी के मध्य में बना। इसका शिखर ईंटों का है जैसा चित्तोड़ में है। पाली जिले में **घाणोराव** का महावीर मंदिर और आबू के समीप **बसन्तगढ़** का सूर्य-मंदिर भी 10 वीं शताब्दी के हैं। 10 वीं 11 वीं शताब्दी के कुछ मंदिर विलाड़ा, भीलवाड़ा के समीप ढाँड, बिजौलिया, जादौली, पल्लू, मोरखाना आदि स्थानों पर अवशिष्ट हैं।

10वीं-11वीं शताब्दी के सबसे सुन्दर मन्दिरों में मारवाड़ में बारमेर के के समीप स्थित **किराडू** के मन्दिर हैं। इनमें सोमेश्वर मन्दिर प्रमुख है। इसका मूल-प्रासाद पञ्चाङ्ग है। उसके सम्मुख अन्तराल, मण्डप और मुख-चतुस्की हैं। पीठ पर परम्परागत ग्रासपट्टी, अश्वथर आदि दिये गये हैं। इस पर एक अत्यन्त सुन्दर और भव्य अनेकाण्डक शिखर आच्छादित है। अष्टास्र मण्डप के खम्भों पर नृत्य-मुद्राओं में सुन्दर मूर्तियाँ उकेरी गयी हैं। देवाङ्गनाओं के प्रदर्शन के दृष्टिकोण से किराडू की मूर्तियाँ खुजराहो से किसी तरह भी कम नहीं हैं।

**सुँगथला** का मधुसूदन मन्दिर आबू के समीप स्थित है। पश्चिमाभिमुख यह मन्दिर 11वीं शताब्दी के आरंभ में बना। इसमें मूल-प्रासाद के सम्मुख एक गूढ़मण्डप और उससे सम्बद्ध महामण्डप है। यह त्रि-अंग प्रासाद है अर्थात भद्र के साथ कर्ण और प्रतिरथ हैं। इस पर जालक लतिन शिखर सुशोभित है जिसके शीर्ष पर आमलक और कलश हैं। शिखर पञ्चाण्डक श्रेणी का है। मूल रूप से यह शिव मन्दिर था, कालान्तर में यह वैष्णव बन गया। जङ्घा पर बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण थीं। वैसे यह मन्दिर अपेक्षाकृत सादा है। यह बार बार टूटा और बना है और इसका मूल-स्वरूप बहुत कुछ लुप्त हो गया है। **कुम्भरियाजी** के जैन मन्दिर भी 11वीं शताब्दी के हैं।

आबू के देलवाड़ा के जैन-मन्दिर जगत प्रसिद्ध हैं। इनमें विमल-वसही का निर्माण विमल ने 1031 ई० में और लूण-वसही का निर्माण वास्तुपाल और तेजपाल नामक दो भाइयों ने 1230 ई० में कराया। ये सम्पूर्ण श्वेत संगमरमर के बने हैं। इनमें से प्रत्येक में गर्भगृह, मण्डप, पार्श्वालिन्द और सभामण्डप

( अथवा महामण्डप ) हैं। इसके चारो ओर एक आयताकार आँगन है जिसमें खम्भोंयुक्त बरामदों में तीर्थङ्करों के लिये देवकुलिकाएँ बनी हैं। खम्भों, तोरणों और छतों की अत्यन्त सुन्दर संरचना हुई है। इनमें इतना महीन काम हुआ है कि लगता है यह पत्थर नहीं, हाथी दाँत है। विशेष रूप से इन मन्दिरों के तोरण और वितान संसार में अनूठे और अतुलनीय हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि ये मन्दिर बाहर से बड़े सादा हैं और यह विश्वास नहीं होता कि इनके भीतर इतनी उत्कृष्ट कला होगी। यह अलंकरण की स्थापत्य पर विजय का प्रमाण है जो अच्छा लक्षण नहीं है। पत्थर की कटाई और मूर्तिकला स्थापत्य में गौण है। जब कभी वह स्थापत्यीय प्रभाव को दबाकर अलंकरण के प्रभा को बढ़ा-चढ़ा देती है, मन्दिर तक्षण-कला अधिक और स्थापत्य कम रह जाता है। जब स्थपति अपना योजना-विन्यास अधिकांशतः अलंकरण के लिये प्रस्तुत करता है, जैसा ईरानी स्थापत्य में रंगीन टाइलों के संदर्भ में होता है और स्थापत्य के एकाकार-रूप को भूल जाता है वह स्थपति नहीं रहता, चित्रकार या मूर्तिकार मात्र बन जाता है।

11वीं शताब्दी के अन्त से राजस्थान के स्थापत्य पर गुजरात की सोलंकी शैली का प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया। 12वीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रभाव मारवाड़ और मेवाड़ के प्रदेशों में, जिन्हें कुमारपाल ने जीत लिया था, बहुत व्यापक रूप से पड़ा। कला शैली की यह प्रेरणा अजमेर तक पहुँची। पत्थर में काष्ठ-कला का चमत्कार इस प्रभाव की विशेषता थी। इससे तक्षण-कला को एक नयी दिशा मिली और मूर्तियों की अभिव्यक्ति और रूपांकनों को एक नया रूप। यह दृष्टव्य है कि राजस्थान की मूल शैली वही रही। उसने अपना मूल व्यक्तित्व नहीं खोया। समयानुकूल इस परिवर्तन को स्वीकार करके अपनी कला को निखार लिया। इस प्रभाव के उदाहरण 11वीं 12वीं सदी में बने चित्तौड़ के मन्दिर ( जैसे समाधीश्वर के कुछ भाग ) लाडनूँ ( नागौर ) के जैन मन्दिर, ओसियाँ के परवर्ती मन्दिर, आबू के समीप चन्द्रावती के मंदिर, मेड़ता फलौदी ( मारवाड़ ) का पार्श्वनाथ जैन मंदिर, कोठड़ा ( बानेर ) के मंदिर और बघेरा ( अजमेर ) के मंदिरों में उपलब्ध हैं। कोटा के समीप बुढादीत का भग्न सूर्य मंदिर भी इसी काल का है। चौहान राजा विशालदेव विग्रहराज चतुर्थ ने अजमेर में 12 वीं शताब्दी के मध्य में एक विशाल संस्कृत महाविद्यालय बनवाया जिसे कुछ दशकों बाद ही तोड़ कर तुर्कों ने मस्जिद बना लिया। इसे अब 'अढ़ाई-दिन का झोंपड़ा', कहते हैं। परमार राजा भोज ने 11 वीं

शताब्दी के पूर्वार्ध में धारानगरी में संस्कृत की एक बड़ी पाठशाला बनवाई थी और उसमें व्याकरण, काव्य, नाटक आदि के उच्च स्तरीय ग्रन्थों को शिलांकित करके लगवा दिया था। इनमें से बहुत सी शिलायें मिल गयी हैं। इसकी सरस्वती की भव्य प्रतिमा आजकल लंदन में है। उसी परिपाटी में विग्रहराज ने यह सुन्दर सरस्वती-मंदिर बनवाया था। इसमें उसके द्वारा रचित 'हरकेलि नाटक' और उसके दरबारी कवि सोमदेव के 'ललित—विग्रहराज-नाटक' को शिलांकित करके लगाया गया था। इन शिलाओं के अवशेष मिल गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ इतिहास, व्याकरण, काव्य, नाटक आदि के साथ साथ ज्योतिष भी पढ़ाया जाता था। खुदाई में एक वृहत् शिला मिली है जिस पर 'काल', 'प्रभात', 'प्रातः', 'मध्यान्ह,' 'अपरान्ह' और 'सन्ध्या' आदि दिन के विभिन्न भागों की देव-रूप मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। दूसरी पंक्ति में 'माघ', 'पूर्व-फाल्गुनि', 'उत्तर-फाल्गुनि', 'हस्त', 'चित्र', 'स्वाति' और 'विशाखा'—सात नक्षत्रों की मूर्तियाँ हैं। नवग्रहों दिग्पालों आदि की मूर्तियाँ तो मंदिरों में प्रायः मिलती हैं किन्तु 'काल-क्रम' के विभिन्न रूपों और नक्षत्रों की मूर्तियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं। इससे 12 वीं शताब्दी में इस प्रदेश की विद्या, ज्ञान और संस्कृति के स्तर का आभास होता है और यह पता लगता है कि हम उस स्तर की तुलना में कितने छोटे हैं।

स्त्री-पुरुष युग्मो का मिथुन-मुद्राओ में मन्दिर में प्रदर्शन कला के इतिहास की बहुत बड़ी समस्या है—अश्लील लगनेवाली ये मूर्तियाँ मन्दिर जैसे पवित्र स्थान पर क्यों लगायी गयीं? अनुमान और अटकल पर आधारित बहुत से मत व्यक्त किये गये हैं ये कौल-कापालिक तान्त्रिकों की साधना का प्रदर्शन है। यह पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति के दार्शनिक सिद्धान्त का मूर्तिरूप है। ये युग्म तत्कालीन समाज के भ्रष्ट आचरण का परिचायक हैं। ये आसन युवक-युवतियों को कामकला की शिक्षा देने के लिये बनाये गये हैं। ये मन्दिर में भक्तों की आस्था की परीक्षा हेतु बनाये गये हैं। ये मन्दिर पर बिजली न गिरे इसलिये लगाये गये हैं; आदि आदि बहुत सी मनगढ़न्त बातें लोगों ने इस स्थापत्य पर थोप दीं। इन मतों का लेषमात्र भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। मंदिर का जौ जौ शास्त्र के अनुसार बनता था। फिर वह शास्त्र इनमें से किसी मत का समर्थन क्यों नहीं करता। क्या स्थपति या मूर्तिकार शास्त्र की आज्ञा के बिना मंदिर में इन मूर्तियों से अलंकरण कर सकता था?

इस संबंध में विद्वान तीन मूल तथ्य भूल जाते हैं:

(1) मिथुन-मुद्राओं का प्रयोग किराड़, खजुराहो या कोणार्क किसी

स्थान-विशेष तक सीमित नहीं है। इनका प्रदर्शन सम्पूर्ण भारत में काश्मीर और नेपाल से कन्याकुमारी तक और सौराष्ट्र से आसाम तक हुआ है।

(2) यह प्रदर्शन द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर 17 वीं शताब्दी तक निरंतर हुआ और

(3) यह प्रदर्शन सभी धर्मों—बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त आदि के मंदिरों पर हुआ। यह उल्लेखनीय है कि खजुराहो के जैन मंदिरों में वैसे ही चारों प्रकार की मिथुन-मुद्राओ का प्रदर्शन हुआ है जैसी वहाँ शैव और वैष्णव मंदिरों में हैं। स्पष्ट ही यह भारतीय स्थापत्य-कला का एक मूल तत्व है।

इन मिथुन-मुद्राओं को चार श्रेणियों में बाँट सकते हैं:—

(1) लावण्यमय—साथ बैठे या खड़े हुए स्त्री-पुरुष युग्म; उमा-महेश्वर की तरह अधिक से अधिक पुरुष ने अपना बायाँ हाथ स्त्री के बायें उरोज पर रखा हो;

(2) आसक्त—आलिंगन, चुम्बन अथवा अन्य प्रणय मुद्रा में लीन स्त्री पुरुष युग्म;

(3) मैथुनरत—मैथुन मुद्राओं में तन्मय स्त्री पुरुष युग्म और

(4) भ्रष्ट—योनि-चोषण, लिंग-चोषण, समुदाय-मैथुन आदि भ्रष्ट मुद्राओं में लीन स्त्री-पुरुष।

पहले तीन वर्ग के मिथुन संपूर्ण भारत के मंदिरों में मिलते हैं। जैन मंदिरों में भी, उदाहरणार्थ राणकपुर के आदिनाथ चौमुखे मंदिर में भी खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर की तरह मैथुनरत मिथुन हैं और विद्वानों को इसके विषय में भ्रम नहीं होना चाहिये। कुमारस्वामी का यह कथन भी सही नहीं है कि ये मिथुन मंदिर के केवल बाह्य भाग पर हैं। द्वारशाखा पर, प्रदक्षिणापथ में, मण्डप शाला में और पार्श्वालिंदों में भी इन तीनों प्रकार के मिथुनों का प्रयोग हुआ है। भ्रष्ट मिथुन इलौरा, खजुराहो, कोणार्क आदि भारत के प्रमुख स्थानों में ही 8वीं शताब्दी के पश्चात मिलते हैं।

मंदिर-स्थापत्य के संदर्भ में इसका विश्लेषण करना बड़ा आवश्यक है।

साहित्य और कला रसानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के दो अलग अलग माध्यम हैं। उनके प्रेरणा-स्रोत वास्तव में एक ही हैं। अर्थात् रस, अर्थ (अथवा प्रयोजन) और छंदस् (अथवा ताल और लय) के इन दोनों में एक

ही मानदण्ड हैं। काव्य में अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा होती है। मूर्ति में रूप द्वारा— अंतर केवल यही है। दोनों तत्कालीन समाज और संस्कृति के दर्पण हैं। इसलिये मूर्ति से संबंधित इस समस्या का हल समकालीन संस्कृत साहित्य में मिल सकता है। क्या इन मिथुन-मुद्राओं के अनुरूप काव्य में भी कोई वर्णन हुआ है ?

समकालीन संस्कृत साहित्य के अध्ययन से यह आश्चर्यजनक तथ्य सम्मुख आता है कि संभोग-शृंगार जैसे मन्दिरों में मूर्तिमान् हुआ, वैसे ही काव्य में भी कालिदास ( 5 वीं शताब्दी ) से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ ( 17 वीं शताब्दी ) तक उसका व्यापक प्रयोग हुआ है। कालिदास ने अपने इष्टदेव शिव और पार्वती के सन्दर्भ में ही 'कुमार सम्भव' में उनकी काम-क्रीड़ाओं का मुक्त वर्णन किया है :—

"चुम्बनेष्वधर दान वर्जितं खिन्नहस्त सदयोपगूहनम्।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रमोदुर्लभ प्रतिकृतं वधूरतम्॥
(८.८)

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दानमव्रणपदं नखस्य यत्।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहतेस्मनेतरत्॥
(८.९)

वासराणिकतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रति दुःखशीलताम्॥
(८. १३)

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत्।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा॥"
(८. १४)

कालिदास के अन्य काव्यों और नाटकों में भारवि ( लगभग 7 वीं शताब्दी ) के 'किरातार्जुनीय' में बाण ( 7 वीं शताब्दी ) के ( गद्यग्रंथ ) 'कादम्बरी' में, भवभूति ( 8 वीं शताब्दी ) के 'मालती-माधव' में और भृतिहरि ( 7 वीं शताब्दी ) के 'शृङ्गार-शतक' में भी संभोग-शृंगार का उन्मुक्त वर्णन हुआ है। अमरुक ( 8 वीं शताब्दी ) के 'अमरु-शतक' और

बिल्हण ( 11 वीं शताब्दी ) के 'चौर-पञ्चाशिका' काव्य तो वास्तव में संभोग-शृंगार के ही ग्रंथ हैं। 12 वीं शताब्दी के अन्त और 13 वीं शताब्दी के आरंभ में हुए कवि जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' में कृष्ण-भक्ति के गीत गाये हैं उसमें भी राधा और कृष्ण के संभोग शृंगार का वर्णन है :—

"श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम्।
पश्यति सस्मित चारु पराम परामनुगच्छति वामाम्॥
(१. ३. ७)

चरणरणितमणिनूपुरया परिपूरित्त सुरत वितानम्।
मुखरवि शृंखलमेखलया सकचगृह चुम्बन दानम्॥
(३. ६. ६)

आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तजात्।
प्रोद्बोधादनु सम्भ्रमादनु रतारम्भादनु प्रतियोः।
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयोः सम्भाषणैर्जानतो—
र्दम्पत्योर्निशि को न को न तमसि व्रीडा विमिश्रो रसः॥
(५. १०. ३)

कालिदास का शिवपार्वती और जयदेव का राधा कृष्ण की कामक्रीड़ाऐं का वर्णन असाधारण महत्व की बात है। इससे पता चलता है कि शृंगार, विशेष रूप से संभोग शृंगार को रसानुभूति का मूल माना गया और सौन्दर्य-स्थिति और आनंद उत्पन्न करने के लिये इस माध्यम का काव्य में—और फिर उसके अनुरूप कला में—उन्मुक्त प्रयोग हुआ। मूर्तिकार ने इस माध्यम से संभोग-शृंगार के वही दृश्य उत्कीर्ण किये—संक्षेप में सौन्दर्य अनुभूति और उसकी अभिव्यंजना के वही आदर्श प्रस्तुत किये जिनका तत्कालीन संस्कृत काव्य और नाटकों में मुक्त प्रयोग हो रहा था।

यह दृष्टव्य है कि मंदिर में देवांगनाओं की मूर्तियाँ दो प्रकार की मुद्राओं में प्रदर्शित हैं—नृत्य और काम। जहाँ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मंदिर में धार्मिक आदेशों के अनुसार लगाई गयीं, वहाँ देवांगनाओं का प्रयोग विशुद्ध कला के उद्देश्य से हुआ है। देवांगनाऐं मंदिर में मात्र अलंकरण के लिये प्रयुक्त हुई हैं और इस दृष्टिकोण से कीर्तिमुख, घटपल्लव, लहर वल्लरी आदि रूपांकनों से उनका कहीं अधिक महत्व है।

शिल्प-ग्रंथों में स्थापत्यीय अलंकरण के लिये उनके प्रयोग हेतु स्पष्ट आदेश दिये गये हैं। लगभग तीसरी शताब्दी ई० में संकलित भरत के 'नाट्य-शास्त्र' में इसका उल्लेख सबसे पहले हुआ :—

मित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः।
समासु जातशोमासु चित्तकर्म प्रयोजयेत्।
चित्तकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनास्तथा।
लतावन्धाश्च कर्तव्याश्चरितं चात्मभोगजम्॥"

(२. ८८-८९)

( नाट्य-मण्डप की दीवारों पर श्वेत लेप करके उन्हें भलीभाँति रगड़कर चिकना और चमकीला बनाना चाहिये। उनपर लताबंध और अन्य मुद्राओं में स्त्री-पुरुष मिथुनों के चित्र बनाये जायें। )

लगभग 5 वीं शताब्दी के वराहमिहिर के ग्रंथ 'वृहतसंहिता' में प्रासाद-लक्षण पर भी एक अध्याय है। उसमें भी मंदिर के गर्भगृह की द्वार-शाखा के अलंकरण के संदर्भ में स्वस्तिक, पूर्णघट आदि रूपांकनों के साथ 'मिथुनों' के प्रदर्शन का उल्लेख है :—

"शेषं मङ्गल्य विहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्॥"

(५५. १४-१५)

स्पष्ट ही ये आदेश शोभा अर्थात् अलंकरण के लिये दिये गये, इनका और कोई उद्देश्य नहीं था।

'विष्णु-धर्मोत्तर-पुराण' के तृतीय खण्ड का संकलन लगभग 7 वीं शताब्दी के मध्य में हुआ। इसमें भी देवाङ्गनाओं को 'लीला विलास' मुद्राओं में प्रदर्शित करने का आदेश है :—

"लीला विलासवि भ्रान्तं विशालजघन स्थलम्।
स्थिरैकपादविन्यासं स्त्रीरूपं बिलिखेद् बुधः॥

(३.३९.५०)

लगभग इसी काल के 'हयशीर्ष-पंचरात्र' में भी यही उल्लेख हुआ।

"पत्रभंङ्गे समिथुनैः शाखादूर्द्धम् विभूपयेत्।"

'अग्नि-पुराण' ( ६ वीं शताब्दी ) ने इसी परिपाटी में आदेश दिया ;

"मिथुनैः पादवर्णामि शाखाशेष विभूषयेत्। (१०४·३० )"

यहाँ भी इस प्रदर्शन का उद्देश्य 'विभूषण' अर्थात् अलंकरण ही माना गया। परवर्ती सभी शिल्प ग्रन्थों ने इस आदेशों का पालन किया और यह परम्परा निरन्तर अक्षुण्य रूप से शास्त्र में वर्णित हुई। 15 वीं शताब्दी में कुम्भा ने 'संगीत राज' के एक भाग 'नृत-रत्न-कोश' में वही दुहराया जो तीसरी शताब्दी में भरत ने 'नाट्य-शास्त्र' में कहा था :—

"विचित्रंचित्रसंयुक्ता वात्स्यायन विनिर्मितैः।
रतप्रबन्धरुचिरा नानानाटक चित्रिता ॥
नायिका नायको पेतनाना रूप विचित्रता।
लता शृङ्खलिका पिण्डीभेद बन्ध विनिर्मितैः॥
कर्तव्या चित्रिता मित्रिविचित्राचित्र कर्मठैः॥"
(१·१·६४-६६ )

15-वीं शताब्दी के ही मारु-गुर्जर शिल्प ग्रन्थ 'क्षीरार्णव' में यही कहा गया।

"स्त्रीयुग्म संयुते रूपं लोकलीलां प्रदर्शयेत्।
मिथुनैः पत्रवल्लिभिः प्रमथैश्चय शोभयेत्॥
( ११५·२२ )"

यहाँ भी इस प्रदर्शन का उद्देश्य शोभा अर्थात् अलंकरण से उत्पन्न 'सौन्दर्य स्थिति' ही माना गया।

सौंदर्य-स्थिति का सृजन जिससे रस की निष्पत्ति हो काव्य, नाट्य, नृत्य, मूर्तिसहित चित्र आदि सभी कलाओं का मूल है, रस से ही सौन्दर्य-आनन्द की अनुभूति होती है। रस सभी प्रकार की मानव-अनुभूतियों का आधार है ऐसा 'नाट्य-शास्त्र' का निर्देश है।

"यथा बीजाद्भवेद् वृत्तो वृक्षात् पुष्पं फलं यथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिता॥
( ६·३६ )"

भोज ने अपने महान् ग्रन्थ 'शृङ्गार-प्रकाश' में रसों में शृङ्गार रस को ही मूल रस माना, शेष रस वट वृक्ष की शाखाओं की तरह उसी से उत्पन्न हुए हैं।

"शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः वीराद्भुतादिषु च येह रस प्रसिद्धिः सिद्धा कुतोऽपि वटवृक्षवदाविभाति। लोके गतानुगतिकत्व वशादुपेतांनिवर्तयितुमेष परिश्रमो नः॥"

कुम्भा ने भी 15 वीं शताब्दी में इसी मान्यता का अनुमोदन किया।

"शृङ्गारमेव सकलेषु रसेषु मुख्यम्॥"

सारांश में संस्कृत के महान् कवियों और भारतीय मन्दिर के स्थपतियों ने सौंदर्य-स्थिति उत्पन्न करने के लिये शृंगार रस का आश्रय लिया और इसी हेतु काम-लीलाओं का वर्णन (काव्य में शब्दों द्वारा) और प्रदर्शन (मंदिर में मूर्तियों द्वारा) हुआ। मन्दिरों में प्रयुक्त नृत्य और काम-मुद्राओं में प्रदर्शित कमनीय देवांगना-मिथुन मूर्तियाँ पाषाण में उत्कीर्ण शृंगार रस की ही अवतार हैं और उनका प्रदर्शन एक लोकोत्तर और अलौकिक कला के सृजन के उद्देश्य से रस की निष्पत्ति के लिये हुआ है जिससे सहृदय और सामाजिक रसिक को सौंदर्यानन्द की अनुभूति हो। यही इन मूर्तियों के मंदिरों में प्रदर्शन का शास्त्रीय रहस्य है।

प्रत्येक उत्थानके पश्चात् पतन अवश्यम्भावी है। वास्तव में पतन उसीप्रक्रिया का एक भाग है जिसे हम विकास कहते हैं। कला आरम्भ होती है, विकसित होती है और फिर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है। वहीं से उसका पतन भी प्रारंभ हो जाता है। यह कहीं बाहर से नहीं आता, जैसे जीवन के साथ मृत्यु अभिन्न रूप से प्रारंभ से ही जुड़ी हुई है वैसे ही पतन उत्कर्ष के साथ जुड़ा हुआ है। इस पर क्या आश्चर्य और क्या खेद।

12 वीं शताब्दी के पश्चात् स्थापत्य-कला के स्वाभाविक विकास रुकने का एक और कारण था—भारत में गजनी के शासक शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में मुसलमानी सम्राज्य की स्थापना। 1191 और 1192 दोनो ही युद्धों में अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय ने तुर्कों को टक्कर दी थी। दिल्ली का तोमर राजा उसका सामन्त मात्र था। दिल्ली जीतते ही तुर्कों ने अजमेर पर भी अधिकार कर लिया था और दिल्ली सल्तनत के प्रारंभिक काल से ही राजस्थान का यह प्रदेश दिल्ली की राजनीति का अभिन्न अंग बन गया। चौहान साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया किन्तु मेवाड़ और मारवाड़ के

प्रदेशों में राजपूत राजा निरन्तर जूझते रहे। सब शक्ति और साधन आत्मरक्षा हेतु सैनिक गतिविधियों में लग गये। कलाओं के पोषण के लिये शान्ति और संपन्नता की आवश्यकता होती है। वे अब शेष नहीं रह गयी थीं।

इस्लाम ने अपनी मूल सहिष्णुता खो दी थी। विशेष रूप से जिन आक्रमणकारियों ने दिल्ली सल्तनत की स्थापना की, वे धर्मप्रचार के भाव से उतने प्रेरित नहीं थे जितने लूटमार के प्रलोभन से। मंदिरों में उन्हें युग युगों का सञ्चित धन मिलता था; इसलिये मंदिर उनकी विध्वंस-लीला के विशेष-रूप से लक्ष्य बने। मध्यकाल में इस प्रकार हजारों मंदिर धराशायी कर दिये गये।

इस विध्वंस से कला की भयंकर हानि हुई—ऐसी क्षति जिसकी पूर्ति नवीन युग नहीं कर सका! किन्तु इससे भारतीय धर्म प्रभावित नहीं हुआ। मंदिर उस धर्म का वाह्य-रूप था। मंदिर टूटता था, उससे हृदय की आस्था नहीं डगमगाती थी क्योंकि भारत में धर्म कभी भी वाहरी आवरण नहीं रहा, वह जीवन-यापन का ढंग था। जीवन का वैसे ही अभिन्न अंग जैसे भोजन, वस्त्र आदि। इसलिये मंदिर टूटता था और फिर वन जाता था। फिर टूटता था फिर वन जाता था। मंदिर की जड़ उस आस्था में थी जो भारतीय हृदय में निरंतर अक्षुण्ण बनी रही। यह भारतीय संस्कृति के बचे रहने का रहस्य है।

1398 में तैमूर के आक्रमण से जर्जर दिल्ली सल्तनत चरमरा कर ढह गया। दूरस्थ प्रदेशों जैसे गुजरात, मालवा, जौनपुर आदि में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हुई। राजस्थान ने भी चैन की साँस ली। भारतीय प्रबुद्ध वर्ग को आत्म-निरीक्षण का अवसर मिला। बदले हुए युग के अनुसार प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं को बदलना आवश्यक था। भक्ति आंदोलन आरंभ हुआ। 15 वीं 16 वीं शताब्दी में वड़े-वड़े भक्त-संत हुए—कबीर, नानक, बल्लभ, चैतन्य, मीरा, तुलसी, सूर आदि आदि। मध्यकाल में यह भारतीय पुनर्जागरण का युग था।

मेवाड़ में कुम्भा का अवतरण इस युग की महानतम घटना है—शायद कबीर के जन्म से भी अधिक महत्वपूर्ण। विस्मृत और धर्म विस्मृत संस्कृति को नवीन कलेवर में फिर से देश के सम्मुख प्रस्तुत करना सांस्कृतिक पुनरुद्धार के लिये नितान्त आवश्यक था। जैसे भगवान विष्णु ने वराह रूप धारण कर रसातल में गयी पृथ्वी का उद्धार किया था। इसी सांस्कृतिक पुनरुद्धार के पुण्य

कार्य के लिये चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ( 5 वीं शताब्दी का प्रारम्भ ) और भोज प्रतिहार 'अमोघ वर्ष' ( ९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ) ने 'आदि वराह' की उपाधि धारण की थी। कुम्भा ( 1433-68 ई० ) ने भी यही पुण्य कार्य हाथ में लिया। वह शास्त्रों में पारंगत था और शास्त्रीय दृष्टिकोण से कलाओं का मूल्यांकन करता था : "शास्त्र साद कृत दृष्टिगौरव"। प्राचीन वैदिक परम्पराओं पर उसकी आस्था थी : "वेदमार्ग—स्थापन चतुरानेन"। कुम्भा के अन्य विरुद: "प्रज्ञास्फुरित केसरी", "श्री सरस्वती रस समुद्भूत कैरवोद्याननायक" और "परम भागवत" भी सर्वथा उपयुक्त और सार्थक थे।

उसने भी "वसुंधरोद्ध रणादि वराहेण" ( पृथ्वी के उद्धारकर्त्ता आदि वराह ) का विरुद धारण किया। उसने साहित्य, संगीत, स्थापत्य पर स्वयं बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे और अपने संरक्षण में विद्वानों और आचार्यों से लिखवाये। यों उसने कलाओं के पुनरुद्धार के लिये एक प्रशस्त आधार-शास्त्र तैयार किया जिसमें नवीन प्रेरणाओं को आत्मसात कर लिया गया था। इस शास्त्र पर आधारित उसने कलाओं के प्रयोग, व्यवहार और अभ्यास को मुक्त-हृदय से प्रोत्साहन दिया। स्थापत्य में उसकी विशेष रुचि थी। उसने कुम्भलगढ़ दुर्ग बनवाया जिसमें 'कुम्भ स्वामी' आदि बड़े सुन्दर मन्दिर, महल और कुण्डों की स्थापना की। आबू के समीप अचलगढ़ दुर्ग में भी उसने 'कुम्भस्वामी' और अन्य मन्दिर और सरोवर बनवाये। किन्तु सबसे अधिक निर्माण-कार्य उसने अपनी राजधानी चित्तौड़ में कराया। दुर्ग की परिखा, प्राकारों आदि का नवीनीकरण हुआ। नगर से दुर्ग तक एक प्रशस्त रथमार्ग बना। सुन्दर प्रतोलियोंसे विविध मार्गों का अलंकरण हुआ। सरोवर और कुण्ड बने और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ जिनमें 'कुम्भ-स्वामी' का मन्दिर प्रमुख है। दो सरोवरों में तोरणयुक्त सुन्दर रथिकाओं में 84 देवी देवताओं की प्रतिमाएँ स्थापित की गयीं और लाञ्छनों के अनुरूप नाम पीठिकाओं पर अंकित किये गये जिससे प्राचीन धर्म के प्रतीक इन देवी-देवताओं का शुद्ध रूप से पुर्नस्थापन हो सके। कुम्भा-कालीन स्थापत्य की यह विशेषता है कि इस युग में जो कुछ बना उसका शास्त्र लिखा गया, जो उपलब्ध है और लाञ्छनों के संकेत वहीं मूर्तियों पर अंकित कर दिये गये। इससे प्राचीन मन्दिर कला को नवजीवन मिला।

कुम्भा की सबसे महान् कृति चित्तौड़गढ़ का 'कीर्तिस्तम्भ' है जिसे भूल 'विजय-स्तम्भ' कहा जाता है। यह किसी सैनिक उपलब्धि या विजय का स्मारक नहीं है। इस झूठी कहानी को कि कुम्भा ने मालवा के खिलजी सुल्तान महमूद को हराया और बन्दी बना लिया, वह उसे चित्तौड़ ले आया जहाँ उसे

छै महीने कैद रखा गया और इस विजय के स्मारक-स्वरूप उसने यह भव्य नौखण्डों का स्तम्भ बनवाया—टॉड ने प्रचलित किया और राजस्थान के आधुनिक इतिहासकारों ने उसका अनुकरण मात्र किया। टॉड ने इसकी प्रशंसा में कहा कि यह "ए मास ऑफ स्कल्पचर" है टॉड और इन इतिहासकारों ने कीर्तिस्तम्भ-प्रशस्ति और इसके अन्य अभिलेखों के विश्लेषण करने का कष्ट नहीं किया जिनमें इसे 'महामेरु-कीर्तिस्तम्भ' की संज्ञा दी गयी है।

यह स्तम्भ प्राचीन यूप-स्तम्भों, ध्वज-स्तंभों और कीर्ति-स्तंभों की परम्परा में परमभागवत कुम्भा द्वारा विष्णु के जनार्दन-रूप को समर्पण-हेतु प्रतीक-स्वरूप बना जिसके मूल में सूर्य पुरुष की कल्पना निहित है : "आलम्ब-स्तम्भ-एवं-त्रिभुवन भुवनस्य।" विष्णु अपने सूर्य रूप में प्रतिदिन उदय होते हैं, 'कीर्ति-स्तंभ-प्रशस्ति' के 34 वें श्लोक में इसी प्रतीक का स्पष्ट उल्लेख हुआ है :—

"भानुः स्वंरथमेक चक्रम करोन्मेरो स्तटे पर्यटन्।
नैवासौ रथचक्र युग्मसरणिं कर्तुं समर्थो भवत्॥
उच्चैर्मेरु गिरेर्नवोदिनकरः श्री चित्रकूटाचले।
भव्यां सद्रथपद्धतिं जन सुखायाचूलमूलं व्यघात्॥३४॥"

कुम्भा के राज्यकाल में ही राणकपुर में प्रथम तीर्थंकर आदि नाथ को समर्पित अद्भुत चतुर्मुख जैन मन्दिर सर्वतोभद्र योजना पर बना। इसे धरणाक नामक प्राग्वाट वंशीय जैन सेठ ने बनवाया और देपाल नामक स्थपति ने इसका निर्माण किया। यह 1439 ई० में पूर्ण हुआ। अभिलेख में इसे 'त्रैलोक्य दीपक' (तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला) 'चतुर्मुख-युगादीश्वर विहार' की संज्ञा दी गयी है। इस विशाल मन्दिर में शिखर युक्त मुख्य मन्दिर के चारों ओर गौण-प्रासाद हैं जो 44 शिखर और गुम्बदों से अच्छादित हैं। कुल मिलाकर 24 मण्डप हैं जिनमें 1444 संगमरमर जैसे श्वेत पत्थर के खम्भों का पयोग हुआ है। प्रत्येक खम्भा 40 फीट ऊँचा है और अद्भुत बात यह है कि इन 1444 खंभों में से कोई भी दो खंभे एक से नहीं हैं। इन पर अत्यन्त शोभनीय रूपांकन उत्कीर्ण हैं। ऐसा विशाल और सुन्दर स्थापत्य अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

एक त्रैलोक्यदीपक जैन प्रासाद बीकानेर में भी 1514 ई० में बना। मध्यकाल में बहुत से स्थानों पर मन्दिर निर्माण हुआ जैसे 17 वीं शताब्दी के आरंभ में आमेर (जयपुर) में 'जगत्-शिरोमणि' का सुन्दर मन्दिर बना और इसी शताब्दी में उदयपुर में सारणेश्वर शिव मन्दिर का निर्माण हुआ। ये सभी

परंपरागत प्रासाद प्रद्धति पर तो ,ने किन्तु दृष्टव्य यह है कि इनमें नवीन प्रेरणाओं को भी घोलमेल लिया गया था। उदाहरणार्थ गुम्बद का प्रयोग शिखर के साथ होने लगा था, वस्तुतः गुम्बद को धारीदार बनाकर उसके शीर्ष पर महापद्म और कलश लगाकर उसका समुचित भारतीयकरण कर लिया गया था। मेहराब का प्रयोग भी हुआ। अलंकरण की विधाएँ भी प्रभावित हुईं। फतेहपुर सीकरी की कला राजपूत मनसबदारों के राज्यों में पहुँच गयी। रेखाकृत और अरबी सम रूपांकन भी चल निकले। स्थापत्य में सादगी अधिक आ गयी, प्राचीन सघनता धीरे-धीरे लुप्त हो गयी।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि टॉड के चरण चिह्नों पर चलकर हमने राजस्थान को केवल वीरों की भूमि बना दिया है, उसका इतिहास युद्धों का इतिहास रह गया है और उसके गरिमामय सांस्कृतिक इतिहास को हम लोग भूल गये हैं। किन्तु यही सब कुछ नहीं है। मानव-प्रगति की प्रक्रिया में सांस्कृतिक इतिहास का इससे कहीं अधिक महत्व है अन्यथा शौर्य 'परिमार्जित-वर्बरता' के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जायेगा। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में टॉड, मैकॉले, एलफिन्सटन, स्लीमैन आदि अनेक अंगरेज विद्वानों ने भारतीय इतिहास और जीवन पर ग्रंथ लिखे। वे सभी ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के नौकर थे। मुगलों को पदच्युत करके ये लोग भारत में अंगरेजी साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसलिये तुर्क-मुगलों से संबंधित मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर कालिख पोतना, जज़िया और मंदिर तोड़ने की घटनाओं का स्मरण कराकर हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाना और यों देश में सांस्कृतिक वैमनस्य और संघर्ष के बीज बो देना इनका अभीष्ट था। यह कंपनी की नीति थी। टॉड ने इस नीति के अनुसार ही राजस्थान के शौर्य और वीरता की कहानियाँ चुन-चुन कर, बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत कीं। उदयपुर के राणा को 'हिन्दूपति' की उपाधि दी गयी। हल्दीघाटी का छोटा सा अनिर्णीत युद्ध 'थर्मोपाली' और 'मारथान' बना दिया गया। इसके दो कारण थे। एक, जिससे मुसलमानों के विरुद्ध वातावरण बनाया जा सके। दूसरे, जिससे ये वीर जातियाँ अपनी संस्कृति से अलग कर दी जायें और अपने 'पूर्वजों के वीर-गान' में बौद्धिक-पक्ष भूल जायें। मुगलों की तरह कंपनी को भी वीर और वफादार सैनिकों की आवश्यकता थी और इसलिये उनके वीर-पक्ष को उभारना आवश्यक था। किन्तु मुगलों ने राजस्थान की संस्कृति से कभी छेड़छाड़ नहीं की। यह संस्कृति और जीवन से अभिन्न रूप से जुड़ा

'धर्म' का अभिरूप अंगरेजों के लिये हितकर नहीं था और इसे विस्मृत कराना आवश्यक था। इसलिये टॉड का इतिहास हजारों झूठी कथाओं से भरा एक वृहत् प्रशस्ति-वाचक राजस्थान के महाभारत का एकपक्षीय ग्रंथ है। टॉड स्थान स्थान से समेटकर सैकड़ों शिलालेखों, मूर्तियों, सिक्कों और ग्रंथों को अपने साथ ले गया। बहुत-सी शिलाओं को उसने समुद्र में फेंक दिया और उनका झूठा-सच्चा उल्लेख अब केवल उसके ग्रंथ में रह गया है। ये सब ऐसे कड़वे सत्य हैं जिनका स्मरण करके अपने दुर्भाग्य पर हृदय रोता है।

कंपनी के ये एजेण्ट अपने प्रयत्नों में सफल हो गये होते (जैसे वे पंजाब में हो गये) यदि राजस्थान के राजा-महाराजा और सेठ-साहूकारों ने सावधानी से अपनी परंपरागत संस्कृति की रक्षा न की होती और उसे संरक्षण और प्रोत्साहन देकर निरंतर जीवित न रखा होता। अंगरेज यहाँ का लोक-जीवन और उस लोक-जीवन से संबद्ध धर्म और कला को नहीं बदल सके। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति तक राजस्थान के लोगों का वही जीवन, वेषभूषा, खानपान, भाषा-संवाद, रहन-सहन, धर्म और संस्कृति—सब कुछ वही रहा। चित्रकार वैसे ही चित्र बनाता रहा, मूर्तिकार वैसी ही देवी-देवताओं की मूर्तियाँ। मंदिर बनते रहे, शिखर युक्त उनका मूल-प्रासाद नहीं बदला। प्राचीन संस्कृति के प्रति लोगों की वही आस्था रही और वही दृष्टकोण। यहाँ के मारवाड़ी सेठों ने सारे देश में जहाँ-जहाँ व्यापार के लिये गये, बड़े-बड़े भव्य मंदिर बनवाये, संस्थान स्थापित किये और प्राचीन संस्कृति की रक्षा को अपने व्यक्तिगत सुख से अधिक महत्व दिया।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अब यह सब कुछ बदल रहा है। अब उनके वंशज व्यक्तिवादी अधिक होते जा रहे हैं। आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ता जा रहा है। अब उनमें अपने धर्म और संस्कृति के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा नहीं रही है। चूँकि व्यापार बहुत बड़ा है और उसमें एक धर्म खाता है इसलिये औपचारिकतावश ईंट और सीमेण्ट के कागजी मंदिर बन रहे हैं जिनमें शास्त्रीय मान-प्रमाणों और अन्य मानदण्डों के पालन करने की कोई आकांक्षा नहीं है। समाज का कर्णधार सम्भ्रान्त वर्ग जो मंदिर, कुएं, बावड़ी-सरोवर और धर्मशालाएें बनवाता था अब अपने स्वयं के सुख के साधन जुटाने में लग गया है। यह कालक्रम है:—

"मन्ये कालश्च भगवान् दैवं च विधिनिर्मितम्।
भवितव्यं च भूतानां यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ।। (महाभारत २. २७३. ६)

# राजस्थान की चित्रकला

श्री रामवल्लभ सोमानी

## (अ) आमुख

अजन्ता और एलोरा की तरह राजस्थान में यद्यपि चित्रकला की सुदृढ़ परम्परा नहीं मिलती है, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ प्राचीन काल में चित्र पट्ट अवश्य बनाये जाते थे। राजस्थान में लिखे ग्रन्थ समराइच्चकहा ( 8वीं शताब्दी ), कुवलय-माला ( 788 ई० ) उप मिति भव प्रपंच कथा, ( 905 ई० ) धर्मोपदेश माला ( 9वीं शताब्दी ) आदि में इन चित्रपट्टों का[1] विस्तार से उल्लेख है। कुवलयमालाकार के चित्रपट्टों के अत्यन्त सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन को देखकर यह कहा जा सकता है कि लेखक ने इन्हें चित्रित किया हुआ अवश्य देखा होगा। यद्यपि राजमहलों में भी भीत्ति चित्र बनाये जाने के वर्णन मिलते हैं। ( चित्तिज्जंति राय संभाओं ) किन्तु उस समय 'पट्ट-आलेखण' को ही प्राथ-मिकता दी जाती थी। यह परम्परा अविछिन्न रूप से पश्चिमी राजस्थान में

---

1. समराइच्चकहा ( हर्मन जेकोबी द्वारा सम्पादित कलकत्ता 1926 ) पृष्ठ 71-72, 608 से 626। कुवलयमाला ( सिंघी जैन ग्रन्थ माला ) पृष्ठ 185 से 188।

'लोक कला' के रूप में विद्यमान रही। कुवलयमाला एवं समराइच्चकहा में चित्रकला सम्बन्धी कई तत्कालीन पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, यथा— चित्रपट्ट के लिए 'पड्ड' या 'चित्तपड्ड' व 'चित्तवट्टिय'; आकृति के लिए चित्त-पुत्तली, तूलिका के लिए 'गुलिय' रंग की डिब्बी के लिए 'वण्ण समुग्गय' आदि शब्द प्रचलित थे। चित्रों को बनाते समय भाव, संयोजन, रंगयोजना एवं माप या नाप का पूरा ध्यान रखा जाता था। चित्रपट्टों की समीक्षा करने के लिए भी इन्हीं[2] मापदण्डों को आधार माना जाता था। चित्रकला का संभवतः व्यापक प्रचार था एवं कई लोग इसे 'व्यसन' के रूप में भी करते थे ( ममं च चित्तयम्मे वसणं जायं )।

## पश्चिमी भारतीय कला शैली

ऐसा विश्वास किया जाता है कि कलाकार शृंगधर ने जो मरुदेश के राजा शील का आश्रित[3] था, कला की एक शैली को विकसित किया, जिसे 'पश्चिमी भारतीय कला शैली' नाम दिया जाता है। यह शील संभवतः मंडोवर का प्रतिहार राजा शीलुक था। नगर (जिला टोंक) के वि. सं. 743 एवं पिंडवाडा के वि. सं. 744 के लेखों में शिल्पियों का उल्लेख है, जिन्हें 'साक्षात्पितामह' भी कहा गया है। इससे पता चलता है कि इन शिल्पियों ने बड़ी कुशलता प्राप्त कर ली थी। इसकी पुष्टि प्रतिहार कालीन मूर्तियों से होती है। इस काल के कुछ ही चित्रावशेष मिले हैं। इनमें जैसलमेर भंडार में संग्रहीत दशवैकालिक सूत्र चूर्णि एवं ओघनिर्युक्ति ( 1060 ई. ) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हें नागपाल के वंशज आनन्द ने पाहिल नामक व्यक्ति से प्रतिलिपि कराया[4] था। संभवतः चित्रकार भी वही था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें आकृतियाँ अपभ्रंश चित्र शैली की तरह 'सवा चश्म' नहीं है। इन ग्रंथों में लक्ष्मी, इन्द्र, हाथी आदि की आकृतियाँ

---

2. रेहा ठायण भावेहि संजुयं वण्ण विरयणा सारं।
   जाणम्मि चित्तयम्म णरिदं दटठुं पि जाणामि (कुवलयमाला पृष्ठ 185)।

3. तारानाथ—हिस्ट्री आफ बुद्धिज्म इन इंडिया ( इंडियन एन्टीक्वेरी भाग 4 पृष्ठ 101 ) डा. मोतीचन्द्र जैन—मिनिएचर पेंटिंग्स फ्रॉम वेस्टर्न इंडिया ( अहमदाबाद 1949 ) पृष्ठ 18।

4. मुनि पुण्य विजय जी—दी केटलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्यु-स्क्रिप्ट्स-जैसलमेर कलेक्शन ( अहमदाबाद 1972 ) पृष्ठ 28।

निस्संदेह अत्यन्त सुन्दर एवं उल्लेखनीय हैं। इनका चित्रण भी सपादलक्ष क्षेत्र में ही हुआ होगा। दक्षिणी राजस्थान एवं उत्तरी गुजरात में 10 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही अपभ्रंश चित्र शैली का प्रभाव हो गया था। इन दशवैकालिक एवं औघनिर्युक्ति की चित्र[5] परम्परा में विद्यादेवी की आकृतियाँ ( एल. डी. इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद संग्रह ) को भी रख सकते हैं। लक्ष्मी की आकृति के अनुरूप 'डीडवाणा' से प्राप्त 'योग नारायण' की मूर्ति ( जोधपुर संग्रहालय ) चंदेलों की राजमुद्रा में लगी लक्ष्मी की आकृति को मान सकते हैं। अतएव पता चलता है कि अपभ्रंश चित्र शैली के फैलाव के पूर्व प्रतिहार शैली का भी उत्तरी भारत में काफी प्रसार रहा होगा।

## अपभ्रंश चित्र शैली

प्रतिहार साम्राज्य के विघटन के बाद चौहान, चालुक्य, गुहिलौत, परमार, आदि राजपूतों ने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की थी। पश्चिमी भारत में श्वेताम्बर जैन धर्म का व्यापक प्रसार हुआ। धर्म ग्रन्थों को लिखने एवं चित्रित कराने की होड़ सी लग गई। अब चित्रकला का क्षेत्र संकुचित होकर ग्रन्थ चित्रण ही मुख्य रह गया। चित्रकलामें[6] नई विधाएं प्रचलित हुई, जिनकी मुख्य विशेषतायें-सवाचश्म चहरा, जिसमें एक आंख बाहर निकली हुई, कोण निकले हुए वस्त्र, त्रिभंग मुद्रा आदि हैं। इस शैली का उद्भव प्रारम्भ में दक्षिण में हुआ। वहाँ से इसका प्रभाव 10 वीं शताब्दी में मालवा में पड़ा। परमार राजा [7]सीयक के वि० स० 1005 ( 948 ई० ) एवं 1017 ( 960 ई. ) के दानपत्रों में अंकित राजमुद्रा में गरुड़ की आकृति में उक्त सारी विशेषताएँ होने से यह अनुमान किया जाता है कि मालवा में 10 वीं शताब्दी में ही इसका

---

5. पुण्य विजयजी एण्ड यू. पी, शाह—सम पेन्डेड वुडन बुक कवर्स फ्रोम वेस्टर्न इण्डिया—वेस्टर्न इंडियन आर्ट—(कलकत्ता-1966) पृष्ठ 34-36 प्लेट 24।

6. यू. पी. शाह-मौर डाक्यूमैन्ट्स आफ जैन पैन्टिंग्स ( अहमदाबाद 1976 ) पृष्ठ 5-6। मोतीचन्द्र जैन मिनिएचर पैन्टिंग्ज फ्रोम वेस्टर्न इंडिया ( अह. 1949 ) पृष्ठ 28-29। मुल्कराज आनन्द एलबस आफ इंडियन पैन्टिंग्ज ( दिल्ली )।

7. यू. पी. शाह-उक्त पृष्ठ 2-3। अगरचंद नाहटा अभिनन्दन ग्रन्थ भाग 2 पृष्ठ 7-10 भी प्रकाशित।

प्रचलन हो गया था। परमार भोज के बांसवाड़ा के दानपत्र में भी इसी प्रकार का अंकन है। सीयक का उक्त दानपत्र उत्तरी गुजरात से मिला है। सम्पूर्ण हाडोती, मेवाड़ (पूर्वी भाग) वागड़ आदि का भाग परमारो के आधीन था। अतएव विश्वास किया जाता है कि अपभ्रंश शैली की ये विधाएं परमार क्षेत्र में 10 वीं शताब्दी में ही विकसित हो गई। घनपाल द्वारा तिलक मंजरी में दिये गये वर्णन से पता चलता है कि उस समय मालवा में चित्रकला का क्षेत्र काफी उन्नत था।

सपादलक्ष के चौहान शासक भी कलाओं के पोषक थे। खरतरगच्छ का विकास भी इनके राज्य में ही हुआ था। इन साधुओं ने चित्रकला के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन्होंने कई धर्म ग्रंथों को चित्रित ही नहीं कराया, अपितु उनके ऊपर लगने वाली काष्ट पट्टिकाओं को भी अलंकृत कराया। जिन वल्लभ सूरि एवं जिनदत्त सूरि से संवंधित पट्टिकाओं पर अंकित मानव आकृतियाँ पूर्ण हैं। इन पर किया गया रंग भी अपभ्रंश चित्र शैली के अनुरूप है। इनके अतिरिक्त जैसलमेर भंडार से और भी कुछ पट्टिकायें मिली हैं। [8] जिन पर विविध अलंकरण हैं। चौहान काल में अजमेर और पाली में चित्रित तिथियुक्त कुछ ग्रंथ मिले हैं यथा पंचाशक प्रकरण वृत्ति (1150 ई. पाली) उपदेश प्रकरण वृत्ति (1155 ई. अजमेर) कविरहस्य (1159 ई. अजमेर) और दशवैकालिक सूत्र (12 वीं शताब्दी पाली) इनमें मुख्यतः अलंकरण बने हुये हैं। ये सारे ग्रंथ इस समय जैसलमेर[9] भंडार में हैं। खरतरगच्छ पट्टावली[9ए] एवं पृथ्वीराज विजय में दिये गये वर्णन के अनुसार उस समय चित्रकला का व्यापक प्रसार था। पृथ्वीराज के महल में चित्र मंडप बना हुआ था। जिसमें रामायण एवं कई अन्य वृत्तचित्र शिकार के दृश्य भी चित्रित किये हुये थे। तिलोत्तमा के वृत्तचित्र को देखकर पृथ्वीराज

---

8. भारतीय विद्याभण 3 (सं. 2000-2001) पृष्ठ 233-235 मोतीचन्द्र जैन मिनिएचर पेन्टिग्ज फ्रोम वेस्टर्न इंडिया (अहमदाबाद 1949) पृष्ठ 190-192। पुण्य विजयजी एवं यू. पी. शाह का लेख (उपरोक्त फुटनोट सं. 5 में वर्णित)।

9 पुण्यविजय-दी केटलग आफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स-जैसलमेर क्लेक्शन (अहमदाबाद 1972) पृष्ठ 72-73, 214 एवं 337।

9ए पृथ्वीराज विजय 9-23-24-104। 12-48।

आश्चर्य चकित रह गया था। इस चित्र मंडप का उल्लेख समकालीन फारसी ग्रंथों एवं प्रवंध चिन्तामणि में किया गया है। इनमें वर्णन है कि अजमेर विजय के बाद जब गौरी पृथ्वीराज के महल में गया, और वहाँ सूअर के शिकार के दृश्य महलों में चित्रित किये हुये देखे तो वह अत्यन्त नाराज हुआ।[10] उसने स्पष्टतः कहा कि ये दृश्य उसकी धर्म भावना के विरुद्ध हैं।

पृथ्वीराज चौहान की मृत्यु के बाद सपादलक्ष हरियाणा अजमेर दिल्ली हासी आदि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। कई महत्वपूर्ण धनी परिवार पश्चिमी राजस्थान की ओर[11] चले गये। जालोर, खेड़, जैसलमेर चंद्रावती भीनमाल चित्तौड़ आदि नगर और अधिक समृद्धशाली हो गये। जैसलमेर भंडार में संग्रहीत द्वयाश्रय[12] काव्य ( 1250 ई. के लगभग जालोर ) सार्द्धशतकवृत्ति, अजित शांति स्तोत्र आदि सचित्र ग्रन्थ 13 वीं शताब्दी के हैं। जालोर में वि. सं. 1308 ( 1251 ए. डी. ) में चित्रित श्रावक प्रक्षप्ति एवं शांतिनाथ चरित्र अहमदाबाद के एक निजी संग्रह में है। वि. सं. 1288 (1231) के लेखयुक्त सूत्रधारों की आकृतियाँ[13] चित्तौड़ के समिद्धेश्वर मंदिर में खुदी हुई है। इनमें अपभ्रंश शैली की सारी विधाएँ मौजूद होने से यह निसंदेह कहा जा सकता है कि उस समय चित्तौड़ में इस शैली का पर्याप्त प्रचार था। वि. सं. 1317 ( 1260 ई. ) में आहड़ ( उदयपुर ) में महारावल तेज सिंह के राज्य में चित्रित श्रावक प्रतिक्रमण[14] सूत्र चूर्णि ( बोस्टन संग्रहालय ) की प्रति कमलचन्द्र ने तैयार की थी। इसमें 6 चित्र हैं। रंग योजना अन्य विधाएँ अपभ्रंश शैली के अनुरूप हैं। चित्र घिस

---

10 दशरथ शर्मा—अर्ली चौहान डाइनेस्टीज ( दिल्ली द्वितीय संस्करण ) पृष्ठ 95-96 । लेखक की कृति-पृथ्वीराज चौहान पृष्ठ 76-77 ।

11. लेखक की कृति-पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स ( जयपुर 1981 ) परिशिष्ट 5 ।

12. पुण्यविजय जी-दी केटलोग आफ संस्कृत मेनुस्क्रिप्ट्स जैसलमेर कलेक्शन ( अहमदाबाद 1972 ) पृष्ठ 141 ।

13. शोधपत्रिका 25 अंक 1 पृष्ठ 53-55 ।

14. आनन्द कुमार स्वामी एन इल्युस्ट्रेटेड मेनुस्क्रिप्ट आफ 1260 ए. डी. ( इस्टर्न आर्ट द्वितीय पृष्ठ 237-240 । लेखक की कृति हिस्ट्री आफ मेवाड़ पृष्ठ 83-85 ।

जाने से अस्पष्ट हैं। सरस्वती का चित्र पर्याप्त आकर्षक है। इसमें मुख चौड़ा और तिरछापन लिये हुये है। जैसलमेर भंडार में कल्पसूत्र टिप्पणक, पांडव चरित उपदेश, मालावृत्ति आदि ग्रन्थ 14 वीं शताब्दी की कृतियाँ हैं। इनमें कल्पसूत्र टिप्पणक बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें पार्श्वनाथ का घुड़सवार के रूप में चित्रण, पुरुप आकृतियों के छोटे-छोटे मुकुट, पृष्ठभूमि में बादल, पेड़ों आदि का अंकन अपभ्रंश चित्रण की परम्परागत शैली से कुछ भिन्नता लिये है।

अल्लाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के फलस्वरूप पश्चिमी भारत के नक्शे में बड़ा परिवर्तन आ गया। 14 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मेवाड़ एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उदय हुआ। महाराणा कुम्भा का राज्य अत्यन्त गौरवपूर्ण था। कीर्तिस्तम्भ राणकपुर के मंदिर, एकलिंग मंदिर का कुंभश्याम मंदिर आदि इस काल की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। मेवाड़ से इस काल की कई कृतियाँ प्रकाश[15] में आई थी। यहाँ से 1318 ई. एवं 1319 ई. के लेखों से युक्त रेखांकन गंगरार ( चित्तौड़गढ़ ) एवं 1325 ई. के लेख सहित रेखांकन जहाजपुर से मिले हैं। सोमेश्वर ग्राम में वि. सं. 1475 ( 1418 ए. डी. ) में चित्रित कल्पसूत्र, ( अनूप संस्कृत पुस्तकालय 'बीकानेर ) देवकुल पाटक ( देलवाडा ) में वि. सं. 1480 ( 1423 ई. ) में चित्रित सुपासनाह चरिय[16] ( पाटन भंडार ) एवं वि. सं. 1485 ( 1428 ई. ) की सचित्र प्रति ज्ञानार्णव ( एल. डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद ) और वि. सं. 1492 ( 1435 ई. ) में चित्रित 'रसिकाष्टक' ( नाहटा संग्रहालय, बीकानेर ) बहुत उल्लेखनीय है। 'सुपासनाह चरिय' अपनी रंग योजना के लिए प्रसिद्ध है। इसमें कई बार पूरे 2 पृष्ठों पर चित्र बने हैं, जो अपभ्रंश की परम्परागत शैली से भिन्नता लिये हुये हैं। रसिकाष्टक पहला अजैन ग्रन्थ है। यह षट ऋतुओं से सम्बन्धित है। प्रत्येक चित्र को 2 खंडों में विभक्त किया हुआ है। इनमें भी कई खंड बने हैं। इसके चित्र बसंत विलास फागु के चित्रों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इस रसिकाष्टक की पुष्पिका में महाराणा कुंभा के आदेश से इसे बनाने का उल्लेख है। सूत्रधार मंडन के ग्रन्थों में भी चित्रकला सम्बन्धी काफी सामग्री है।

---

15. शोध पत्रिका वर्ष 27 सं. 4 पृष्ठ 41-42।
16. सारा भाई नवाब—ओल्डेस्ट जैन पेन्टिंग्ज फ्रोम राजस्थान ( अह. ) पृष्ठ 30। आकृति जुलाई 1976 पृष्ठ 11-14।

नागौर और जैसलमेर भी महत्वपूर्ण केन्द्र थे। नागौर के खानजादा शासकों का हिन्दुओं के साथ सौहार्दपूर्ण वर्ताव था। कई जैन मन्दिर वने और सैकड़ों मूर्तियाँ भी स्थापित हुई। इनके राज्य में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के कई ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की गई। सचित्र ग्रन्थों में पांडव[17] चरित्र वि. सं. 1468 ( 1411 ई. ) ( जोधपुर के एक जैन मंदिर में संग्रहीत ) उल्लेखनीय है। खरतरगच्छ के श्रावकों द्वारा जैसलमेर में कई जैन मंदिर बनाये गये। जिनभद्र सूरि द्वारा वहाँ ग्रन्थ भंडार की स्थापना एक महत्वपूर्ण घटना है। वहाँ कई ग्रन्थ संग्रहीत किये हैं। जैसलमेर के एक शिलालेख के अनुसार शंखवाल "खेता" ने कई कल्प सूत्र चित्रित कराये थे। विक्टोरिया एवं एलवर्ट म्युजियम लंदन में जो वि. सं. 1505 का लेख युक्त पट्ट है वह संभवतः जैसलमेर से सम्वन्धित है।

15 वीं और 16 वीं शताब्दी में श्वेताम्वरों में कल्पसूत्र का लेखन और चित्रण विशेष रूप से हुआ है। यह मुख्य रुप से 2 भागों में बांटा जा सकता है। (1) लाल पृष्ठ भूमि वाले और (2) आसमानी पृष्ठ भूमि वाले। इन दोनों रंगों से रंगे हुये पत्रों पर कल्पसूत्र लेखन एवं चित्रण का कार्य लम्वे समय तक चलता रहा है। राजस्थान में चित्रित कल्पसूत्र गुजराती शैली के अधिक अनुरुप हैं। बीकानेर में श्री पूज्य जी संग्रह ( ग्रन्थागार सं. 546 चित्र संख्या 46 ) में रखा कल्पसूत्र और प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में रखी ( भीनमाल में वि. सं. 1563 ) (1508 ई.) में प्रतिलिपि की गई। प्रति वहुत ही उत्कृष्ट है। भीनमाल वाली प्रति के चित्र हाल ही में प्राकृत भारती द्वारा प्रकाशित भी कराये गये हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि उस समय तक प्राचीन रूढ़िगत ( Stereo typed ) शैली से ही आकृतियां, अलकरण, पृष्ठ भूमि आदि चित्रित किये जाते रहे हैं। इनके अतिरिक्त श्री पुज्य जी संग्रह बीकानेर में उत्तराध्ययन सूत्र ( कुल चित्र सं. 36 ) बहुत ही उल्लेखनीय हैं। इसमें दृश्यों को कई भागों में बाँटा गया है। और बहुत ही वारीक काम है। 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दिल्ली और उसके आसपास दिगम्बर जैन ग्रन्थों के चित्रण करने के कुछ सन्दर्भ मिलते हैं। इनमें गतिपूर्ण छोटी-छोटी मानवाकृतियां बनाई जाती रही हैं। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन कुलादार शैली के चित्र हैं। इनके प्रचलन क्षेत्र और तिथियों में यद्यपि विवाद हैं किन्तु रंग योजना मानवाकृतियां आदि का सम्बन्ध निश्चित रुप से प्राप्त चावंड रागमाल से बिठाया

17. शोध पत्रिका 9 1 पृष्ठ 77-78।

जा सकता है। विश्वास किया जाता है कि इस शैली का उद्भव अफगानों द्वारा किया गया है। महाराणा सांगा के समय दीर्घ काल तक अफगान सामन्त मेवाड़ में रहे थे। हकीम खां सूर महाराणा प्रताप के समय तक मेवाड़ में रहा था। पूर्वी मालवा जहां से कुलादार चित्र मिले हैं, मेवाड़ से प्रभावित रहा है। अकबर के समय के प्रारम्भिक सचित्र ग्रन्थों में नारियों का जो चित्रण है वह राजस्थानी नारियों से बहुत मिलता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि उस समय तक इस क्षेत्र में चित्रकला उन्नत थी।

### राजस्थान चित्रशैली का उद्भव

कुमार स्वामी ने राजपूत[18] चित्रशैली के नाम से इसका अध्ययन करते हुए लिखा है कि इसका उद्भव मध्य काल में हुआ है, और इसमें आद्य ओजस्वीपन ( Primitive vigourness ) निस्संदेह मुगल शैली से भिन्न है। वेसिल ग्रे ने भी यही[19] मत व्यक्त किया है। कार्ल. जे. खांडालावाला का मत है कि पश्चिमी भारतीय शैली और मुगल शैली के संयुक्त स्वरूप से ही राजस्थान चित्र शैली का जन्म हुआ है। इस प्रकार से इस समय मुख्य रूप से दो मत मिलते हैं (1) पूर्व मध्य काल में उद्भव (2) पश्चिमी भारतीय चित्र शैली और और मुगल शैली के समन्वय से उत्पन्न। इनमें दूसरा मत अधिक उपयुक्त लगता है। मेवाड़ और बूँदी चित्र शैलियों पर प्रारम्भ से ही स्थानीय शैलियों का अत्यधिक प्रभाव है। वीकानेर पर मुगल प्रभाव अधिक है। इस प्रकार से राजस्थानी चित्रशैली की निम्नांकित शैलियां प्रचलित हैं :—

(1) मेवाड़ (2) बूँन्दी (3) कोटा (4) मारवाड़ (5) ढूंढाड़ (6) सिरोही एवं कई अन्य उप शैलियां।

### मेवाड़ चित्र शैली—

जैसा पूर्व में वर्णित है मेवाड़ चित्रकला का एक उल्लेखनीय केन्द्र रहा है। 13 वीं शताब्दी से ही इस क्षेत्र में चित्रकला के निश्चित प्रमाण मिलते हैं।

---

18. ए. के. कुमार स्वामी—दी राजपूत पेन्टिग्स ( ओक्सफोर्ड 1916 )। हिरेन मुकर्जी—ओरिजन आफ राजस्थान पेन्टिग्ज ( रूप लेखा 33 सं. 1-2 पृष्ठ 43-57। )
19. वेसिल ग्रे—दी राजपूत पेन्टिग्ज ( लंदन 1948 ) पृष्ठ 1-2।
20. कार्ल खांडालावाला-लीवज फ्रोम राजस्थान ( मार्ग 4 सं 3 ) एवं मार्ग 9 सं. 2 पृष्ठ 4 से 1 तक।

इनमें निम्नांकित चित्रांकन वहुत ही उल्लेखनीय हैं एवं संक्षिप्त परिचय पूर्व में दिया जा चुका है—

(1) चित्तौड़ के रेखांकन ( 1229 ई. ) श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र चूर्णि ( 1262 ई. ) गंगरार के रेखांकन ( 1318-19 ) जहाजपुर के रेखांकन ( 1325 ई. ) कल्पसूत्र ( 1418 ई. ) सुपासनाह चरिय ( 1428 ई. ) ज्ञानार्णव ( 1428 ई. ) रसिकाष्टक ( 1435 ई. ) गीत गोविन्द आख्यायिका ( 15 वीं शताब्दी ) आदि।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मेवाड़ में चित्रकला की प्रक्रिया बराबर जारी थी। निरन्तर युद्धों के कारण कई सामग्री नष्ट हो गई एवं कई सचित्र ग्रंथ मेवाड़ और मुगल संघर्ष के होने के वावजूद चित्रकला की प्रक्रिया जारी रही। प्रताप ने 1590 ई. के आसपास अपनी[1] स्थिति में काफी सुधार कर लिया था। 1588 ई. के गोरा वादल चौपाई ( सादड़ी ) की पुष्पिका में किये गये वर्णन से भी इसकी पुष्टि होती है। उस समय चित्तौड़ माडंलगढ़ एवं कुंभलगढ़ को छोड़ शेष भाग वापस प्रताप के अधिकार में आ गये। अकवर के अधीन मुगल चित्र शैली का तेजी से विकास हो रहा था। इसका प्रभाव स्पष्ट रूप से मेवाड़ शैली पर भी पड़ा। ढोला मारु की चौपाई ( 1592 ए. डी. ) ( राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली ) को मेवाड़ का सबसे प्राचीनतम राजस्थानी शैली का ग्रंथ कहा जा सकता है, जिस पर मुगल प्रभाव स्पष्ट है। इस पर जो पुष्पिका लग रही है, उससे प्रतीत होता है कि चौहथ के परिवार के लिए यह ग्रंथ बनाया गया था, किन्तु इसमें चित्रण कार्य लम्वे समय अर्थात 1620 ई. में जाकर पूरा हुआ होगा। कुछ चित्र स्पष्टतः जहांगीर कालीन प्रभाव को परिलक्षित करते हैं। संभवतः 1610 ई. से लेकर 1615 ई. तक मेवाड़ लम्वे संघर्ष में जूझता रहा। लगभग सारे नगर नष्ट से हो गये। समकालीन लेखक सर टामस रो ने ऐसा ही वृतान्त प्रस्तुत किया है। अतएव कला कार्य होना कठिन सा था। अतएव 1615 ई. में संधि होने के बाद ही शेष चित्र पूरे हुये होंगे। नाडोल जो उस समय मेवाड़ में था, 17वीं शताब्दी के कुछ भीति चित्र मिले हैं।

दूसरी महत्वपूर्ण कृति रागमाला[2] ( गोपीकृष्ण कानोड़िया राष्ट्रीय संग्र-

1. लेखक की कृति—हिस्ट्री आफ मेवाड़ पृ. 227-240
2. गोपीकृष्ण कानोडिया—एन अरली राजस्थानी रागमाला ( जरनल आफ इंडियन सोसाइटी आफ ओरियन्टल आर्ट भाग XIX प्लेटस 1 से 4

हालय, दिल्ली ) है, जिसे निसारदी ने 1605 ई. में चांवड़ में पूर्ण की थी। इसके कुछ चित्र मिले हैं। सन् 1605 ई. में जहाँगीर ने राज्य प्राप्त करते ही मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिये सेना भेजी। महाराणा अमरसिंह 1 ने उदयपुर से अपनी राजधानी हटाकर चांवड़ में अस्थायी रूप से स्थिर की थी। निसारदी भी इस काल में चांवड़ गया होगा। इस ग्रंथ में कई विशेषतायें हैं। इस पर स्पष्टतः चौर पंचाशिका एवं भागवत का प्रभाव परिलक्षित होता है। रंगयोजना संयोजन एवं नारी आकृतियां भी स्पष्टतः उक्त प्रभाव को प्रदर्शित करती हैं। इसी राममाला से मिलते हुये कुछ और चित्र हाल ही में मिले हैं। गिल्लूण्ड से एक रागमाला का सेट ( 1608 ई. ) भी मिला है। यह नगर उस समय बड़ा प्रसिद्ध था। राणारासोग एवं पृथ्वीराज रासो नामक ग्रंथ भी उसी समय गिल्लूण्ड में ही प्रतिलिपि किये गये थे।

महाराणा कर्णसिंह के समय 1620 ई. से ही मुगल प्रभाव बड़ी तेजी से मेवाड़ में बढ़ा। सहाबुद्दीन चित्रकार संभवतः उसके समय में ही आ गया था। कर्णसिंह के बाद महाराणा जगत सिंह का शासन काल मेवाड़ चित्रकला के लिये बहुत ही अधिक प्रसिद्ध है। उस समय मेवाड़ की अपनी विशिष्ट चित्र शैली बन गई थी, जिसकी प्रमुख विशेषताएं निम्न थीं :—

(1) प्रमुख गहरे रंगों, जिनमें हिंगलु रंग विशिष्ठ था, का अधिकाधिक प्रयोग।

(2) मानव आकृतियों में नुकीली नाक, गोल मुंह और मत्स्याकृति की आखें प्रमुख हैं। चित्र में मुख्य आकृति को अपेक्षाकृत लम्बा बनाया जाना भी एक विशेषता रही है।

(3) हर चित्र के ऊपर गहरे पीले रंग की एक पट्टी रहती है, जिस पर उस चित्र से सम्बन्धित लेख भी लिखा रहता है।

(4) वास्तु शिल्प में सामान्य पतले स्तम्भ एवं लंबी बारादरी वाले भवन चित्रित किये गये हैं।

जगत सिंह प्रथम के समय के नीचे लिखे सचित्र ग्रंथ मिले हैं :—

1. रागमाला[3] ( मोतीचन्द खजांची संग्रह ( 1628 ई. )—अब राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में )।

---

3. के. इबलिंग—रागमाला पेन्टिग्ज ( दिल्ली 1973 )। रागमारु पट्ट ( 1628 ई. ) का लेख लगा हुआ है। डा. राधाकृष्ण वशिष्ट मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा ( जयपुर 1981 ) पृ. 23

2. गीत गोविन्द ( 1630 ई. के लगभग महाराजा जोधपुर के संग्रह में ) ।
3. रसिक प्रिया के कुछ पत्र ( महाराजा जोधपुर एवं बीकानेर के संग्रह में ।
4. आर्ष रामायण[4] ( 1648-1651 ई. ) ।
5. भागवत[5] ( भंडारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना 1648 ई. ) ।
6. जेम पैलेस रागमाला[6] ( 1650 ई० के लगभग—राष्ट्रीय संग्रहालय ) ।
7. कविप्रिया ( 1650 ई. ) के लगभग प्रताप संग्रहालय, उदयपुर ।
8. सूर सागर[7] आदि ।

महाराणा जगत सिंह वैष्णव धर्म के अनुयायी थे । उदयपुर स्थित जगदीश मंदिर के निर्माण का लगभग सारा कार्य भी इनके राज्य में पूर्ण हुआ था । इसके मुख्य शिल्पी सूत्रधार भान और मुकुन्द थे । चित्रकारों में सहाबुद्दीन प्रमुख था । हीरानन्द एवं मनोहर इसके सहायक थे । ऐसा प्रतीत होता है कि इसने जहाँगीर के समय में प्रचलित पापुलर मुगल शैली से प्रेरणा ली थी । भागवत में जहाँगीर सी मिलती हुई एक आकृति भी बनाई है । तत्कालीन राजस्थान में मेवाड़ को एक प्रमुख चित्रकला के केन्द्र के रूप में विकसित करने का श्रेय इसको ही है । इसकी प्रारम्भिक कृति रागमाला ( 1628 ई. ) है । प्रमुख पात्र होने से कृष्ण को अपेक्षाकृत लम्बा अंकित किया है । इसके सामने राधा की और अन्य आकृतियाँ काफी छोटी दिखाई देती हैं । गीत गोविन्द में प्रत्येक चित्र को दो भागों में विभक्त किया गया है, और दो विभिन्न दृश्य इसमें अंकित किये गये हैं । विभाजन रंगों पेड़ पौधों आदि से प्रायः किया गया है । प्रत्येक चित्र के नीचे दो बड़े बनाना सहाबुद्दीन की अपनी विशिष्ठता है । इस प्रकार का अंकन मेवखड़ के अन्य कुछ कृत्यां जैसे 'गोविन्द आख्ययिका

---

4. मोतीचन्द्र—पेन्टिग्ज फ्रोम एन इलुस्ट्रेटेड रामायण ( बुलेटिन आफ प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम सं. 5 पृष्ठ 33 से 42 । डा. राधाकृष्ण वशिष्ट—उपरोक्त पृ. 24
5. पी. जी. गोडे—न्यू इंडियन एन्टिक्वेरी भाग प्रथम सं. 4 पृष्ठ 249 खांडालावाला—लीवज फ्रोम राजस्थान मार्ग 4 सं० 3 पृष्ठ 1 से 10 ।
6. ललितकला सं. 3-4 । मुल्कराज आनन्द—एल्बम आफ इंडियन पेन्टिग्ज पृष्ठ 1
7. ब्ल्यु. जी. आर्थर—राजस्थानी पेन्टिग्ज फ्रोम दी कलेक्शन आफ गोपी कृष्ण कानोड़िया ( कलकत्ता 1962 ) पृष्ठ 14-15 ।

आदि में किया गया है। सहाबुद्दीन की रिपक्वता का दृष्टव्य हमें आर्य रामायण और भागवत में दिखाई देती है। एक ही तस्वीर में कई दृश्यों को अंकित कर, विभिन्न घटनाओं को जोड़ने का क्रम बनाना आदि इसकी विशेषता है। भीड़ भरे दृश्यों को भी सुन्दर ढंग से सजाने और चित्र में स्थान के अच्छे उपयोग की भी कोशिश की है। चित्र पट्ट का विभाजन इस प्रकार से किया गया है कि भीड़ भरे दृश्य और विभिन्न घटनाओं का इनमें संयोजन बना रहे। चित्रों में पोषाक प्रायः राजस्थानी है। पगड़ी विभिन्न प्रकार की दिखाई देती है। रामायण और भागवत में "अटपटी" जहाँगीर कालीन, कुलादार, शाहजहाँ कालीन आदि पगड़ियों का उपयोग मिलता है। ऐसा लगता है कि चकदार जामा, जो प्रारम्भिक गीत गोविन्द (1630 ई.) एवं रागमाला (1628 ई.) में प्रायः मिलता है, का उपयोग बाद में सहाबुद्दीन के कार्यों में नहीं मिलता है।

महाराणा जगत सिंह प्रथम के बाद उसका पुत्र राजसिंह प्रथम इसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके शासन काल में भी चित्रकला का कार्य यथावत चलता रहा। सहाबुद्दीन बराबर कार्य करता रहा। रामायण का अधूरा कार्य इसके राज्य में पूर्ण हुआ। युद्धकांड (1652 ई.) किष्किधा कांड (1653 ई.) उत्तर कांड (1653 ई.) शूकर क्षेत्र माहात्म्य (1655 ई.) एकादशी माहात्म्य, (प्रताप संग्रहालय, उदयपुर) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

रसमंजरी (जैन मंदिर, उदयपुर), भागवत प्रुराण (जोधपुर राजमहल) गीत गोविन्द, कुमार सम्भव (कुं. संग्राम सिंह) पर दक्षिणी भारतीय प्रभाव मानते हैं। रस मंजरी 1650-1654 ई. के मध्य औरंगाबाद में मेवाड़ के सामन्त मोहन सिंह[8] शक्तावत के लिए जेठा और उदयचन्द्र ने चित्रित किया था। सरयूदोषी की मान्यता है कि इसमें मेवाड़ और दक्षिण चित्रशैली के प्रभावों से युक्त एक नयी शैली है किन्तु इस मान्यता में अधिक बल नहीं है। इसमें दक्षिणी वैशिष्ठता कम है, अन्य राजपूत शैलियों में भी इसी प्रकार का अंकन प्रायः देखा जा सकता है।

महाराणा राजसिंह की मृत्यु 1680 ई. में हुई। इसका उत्तराधिकारी महाराणा जयसिंह प्रथम था। इसने भी अपने पिता द्वारा चलाये गये युद्ध को जारी रखा और मुगलों के साथ संघर्ष में इसको काफी सफलता भी मिली।

---

8 सरयू दोषी—एन इलुस्ट्रेटेड एमएस फ्रोम औरंगाबाद 1650 ई. (ललितकला सं. 15 पृष्ठ 19-28)। राधाकृष्ण वशिष्ठ उपरोक्त पृष्ठ 28

मरु रागिनी ( 1650 ई० के लगभग ) ( राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली )
मेवाड़ चित्र शैली

आर्ष रामायण का एक दृश्य ( 1650 ई० ) (प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर) मेवाड़ चित्र शैली
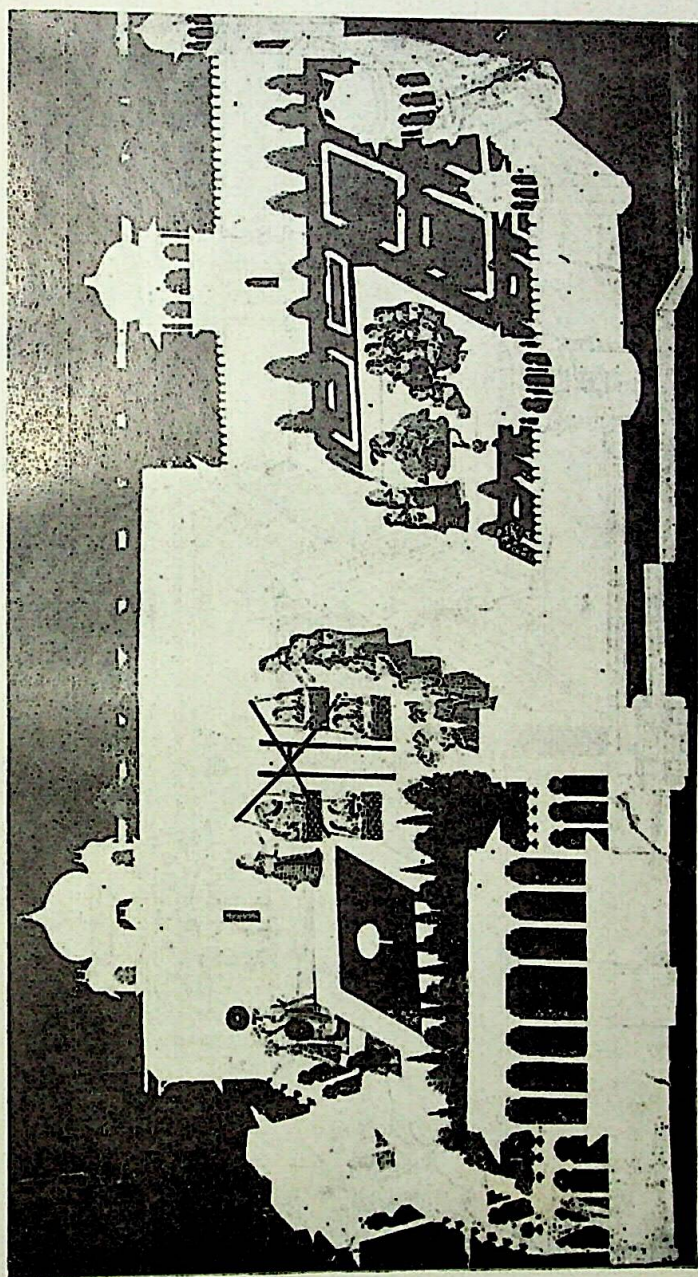
महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय मनोविनोद करते हुये। पृष्ठ भूमि में लेक पैलेस का दृश्य है
( 1720 ई० के लगभग ) ( मेवाड़ शैली ) ( कुंवर संग्राम सिंह संग्रह )
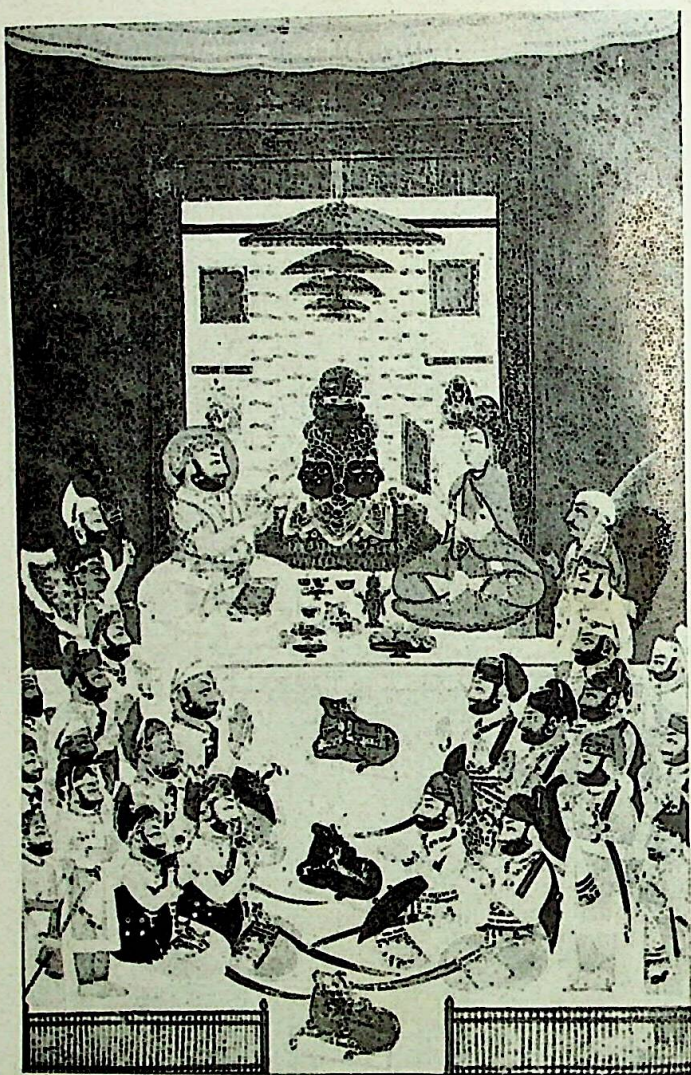
महाराणा भीम सिंह एवं उसके प्रमुख जागीरदार एक लिंगजी की पूजा करते हुये ( 1810 ई० के लगभग ) ( मेवाड़ शैली ) ( कुवर संग्राम सिंह संग्रह )
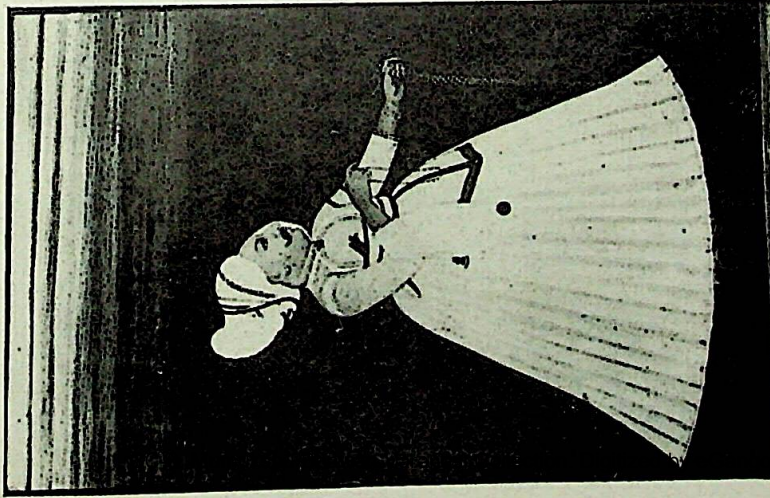
देवगढ़ के एक जागीरदार का वृत्तचित्र (1820) ई०) चित्रकार भीखा (कुवर संग्राम सिंह संग्रह)

वीकानेर के महाराजा सुजान तिंह का वृत्त चित्र (उक्त संग्रह) 1800 इ० के लगभग
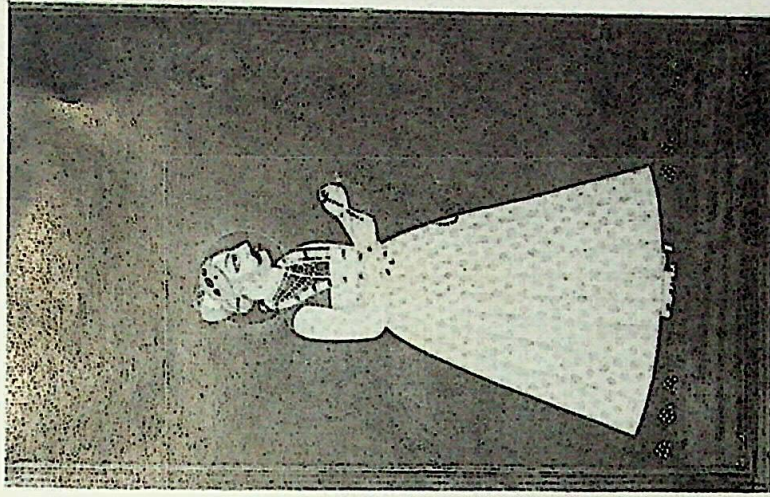
इन्द्रसिंह सलाप के ठाकुर ( जयपुर शैली 1750 ई० के लगभग। कुंवर संग्राम सिंह संग्रह )

रागमाला का एक दृश्य ( बूंदी ) कुंवर संग्राम सिंह संग्रह
( 1650 ई० के लगभग )

श्रीनाथ जी का एक पट्ट ( किशनगढ़ शैली ) ( 1800 ई०
के लगभग । एक निजी संग्रह )

मतवाली नारी (कुं० संग्राम सिंह संग्रह) 1750 ई० के लगभग ( बूंदी )
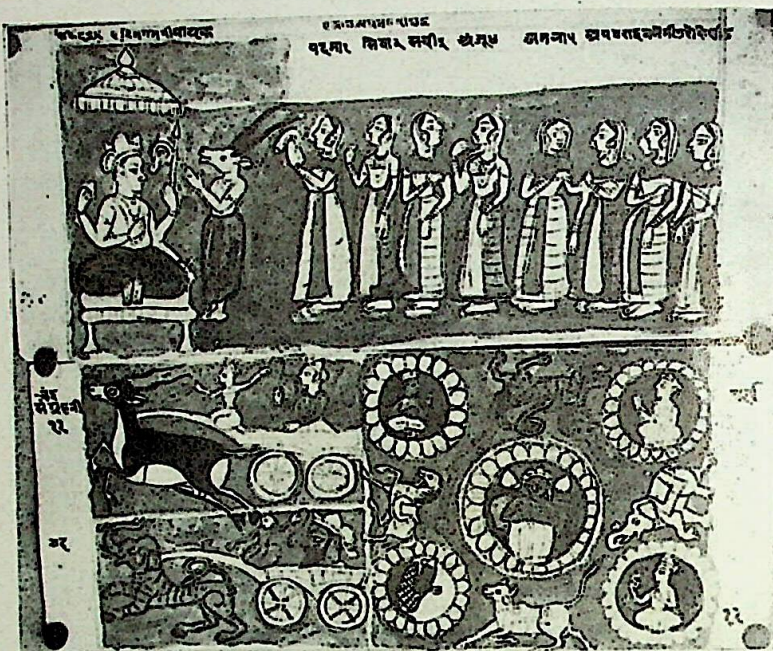
संग्रहिणी सूत्र ( 1745 ई० ) किशनगढ़ शैली
( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )

रागमेल मलार ( 1623 ई० ) पाली (मारवाड़) चित्रकार

बीरजी (कुंवर संग्राम सिंह संग्रह)
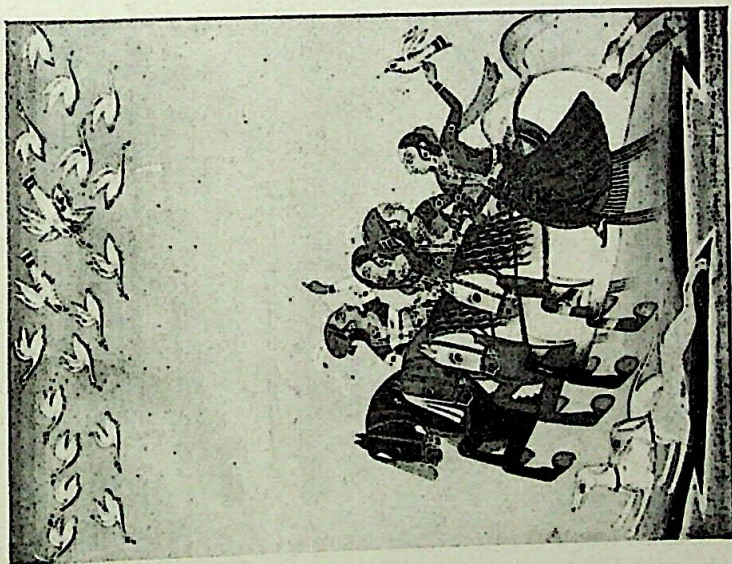
बतखों का शिकार ( मारवाड़ ) 1775 ई०
( कु० संग्राम सिंह संग्रह )
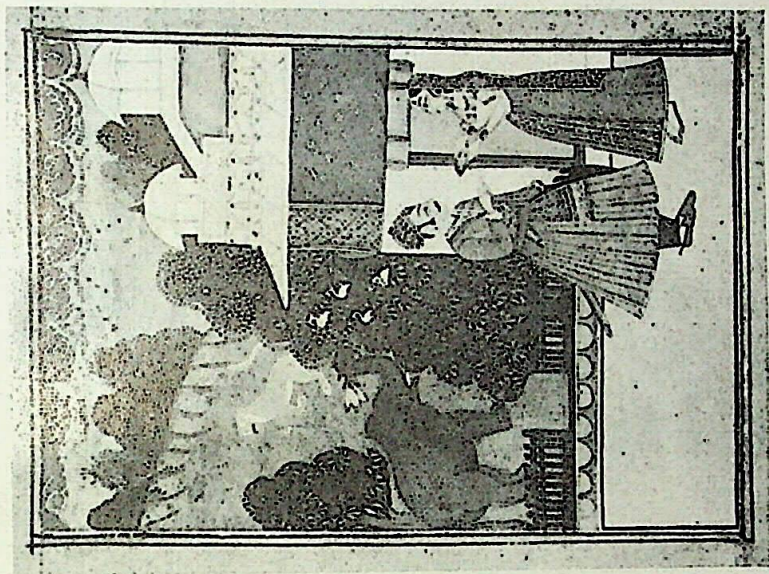
भादवा माह (बारामासा) नागौर (मारवाड़) 1775 ई०
( कु० संग्राम सिंह संग्रह )

पृथ्वीराज चौहान (मारवाड़) 1800 ई० (कु० संग्राम सिंह संग्रह (मारवाड़)
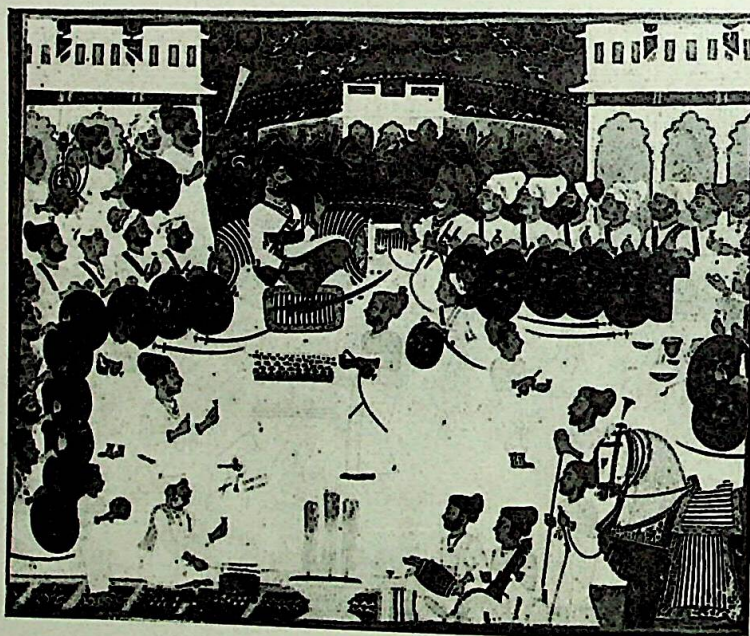
चंडावल के जागीरदार का दरबार ( मारवाड़ ) 1800 ई०

( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )
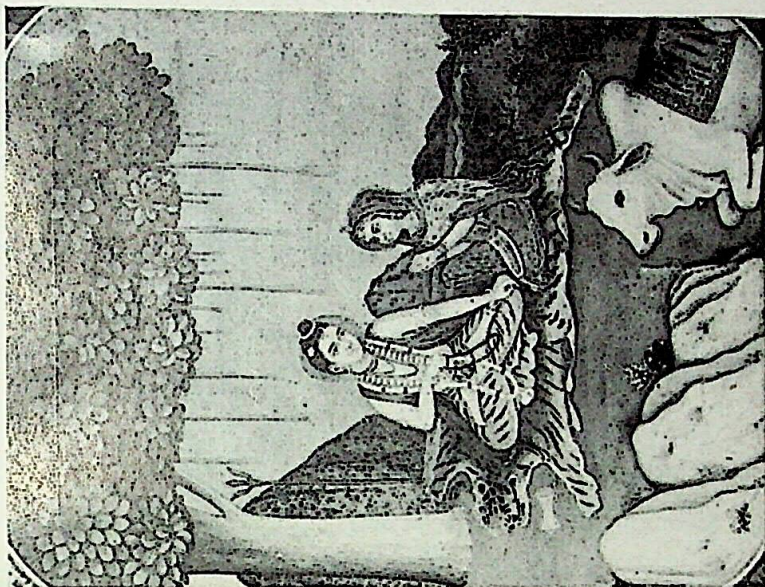
महाराजा भीम सिंह कोटा ( 1780 ई० के लगभग )
( एक निजी संग्रह ) ( कोटा )

शिव पार्वती ( कोटा शैली ) 1780 ई० के लगमग
( एक निजी संग्रह )
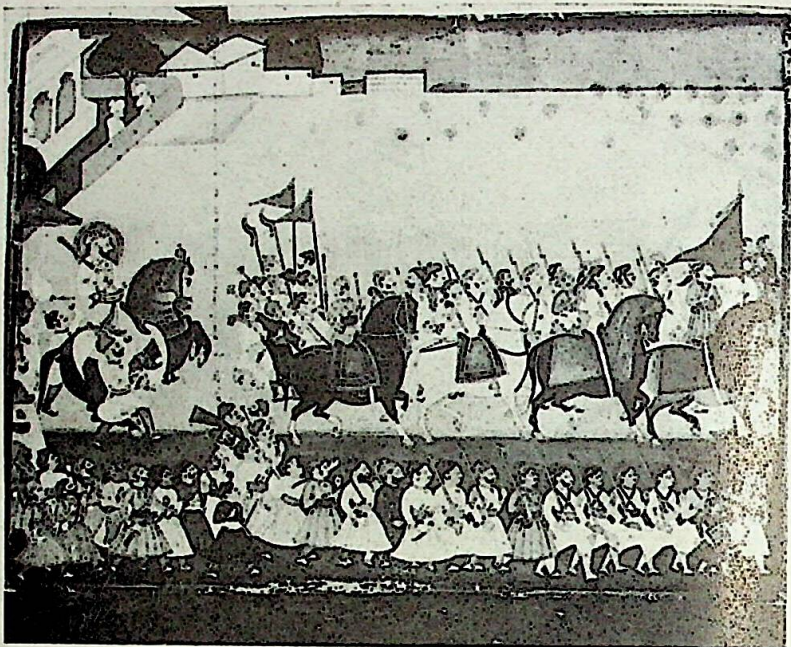
महराव रामसिंह की सवारी का दृश्य ( कोटा शैली )
1860 ई० ( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )

महाराव रामसिंह पिचकारी छोड़ते हुये ( 1880 ई० के लगभग ) कुं० संग्रामसिंह संग्रह
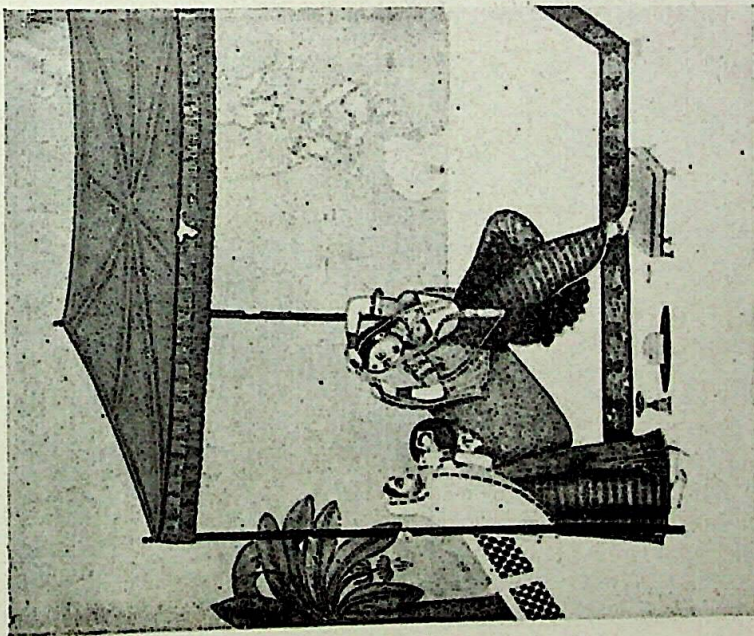
राग विलावल ( 1750 ई० के लगभग ) जयपुर शैली
( कु० संग्राम सिंह संग्रह )
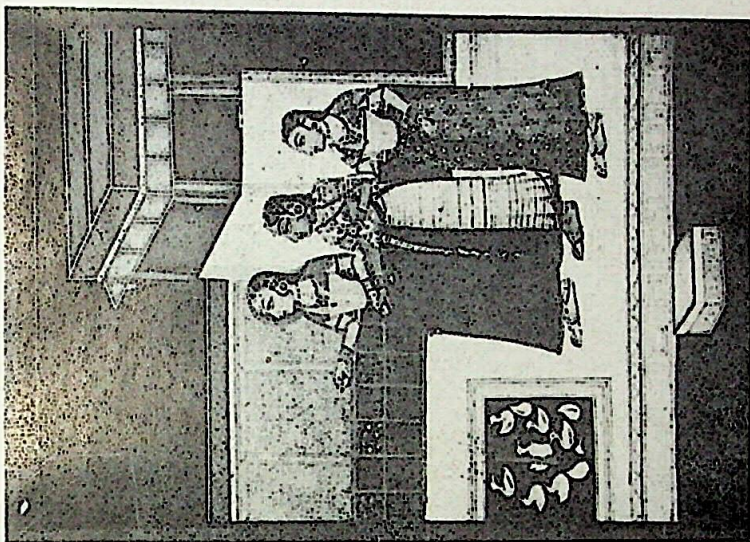
तीन स्त्रियाँ फूल छोड़ती हुई (1740 ई० के लगभग)
उणियारा ( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )

राधाकृष्ण (जयपुर शैली) 1780 ई० के लगभग (कुं०·संग्राम सिंह संग्रह)

सुअर का शिकार ( 1800 ई० ) उणियारा ( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )
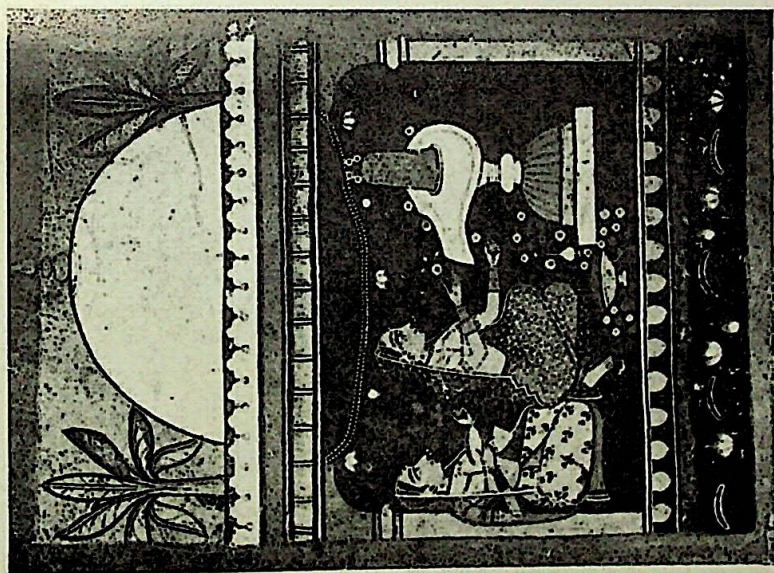
रागिनी भैरवी ( 1715 ई० ) सावर

राजा राजसिंह जूनिया (अजमेर) 1698 ई० चित्रकार चांद
( कु० संग्राम सिंह संग्रह )

कृष्ण राधा ( क्रिशनगढ़ शैली प्रथम 1800 ई० के लगभग )
एक निजी संग्रह

अन्त में 1681 ई. में संधि हो गई। इसके शासन काल की भी कई कृतियां चित्रित की गई हैं। रामायण की एक सुन्दर कृति 1688 ई. में भट्ट मुकुन्द ने भट्ट कृष्ण द्वारा लिखवायी और चित्रित कराई। यह इस समय महाराजा जयपुर के संग्रह में है। भागवत पुराण ( 1690 ई. के लगभग ) की एक प्रति भी चित्रित की गई है ( गोपी कृष्ण कानोड़िया संग्रह )। इसमें रंगों का सुन्दर संयोजन है।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय सन् 1698 ई. में राज गद्दी पर बैठा। इसके राज्य रोहण के दृश्य का एक चित्र जयमंगला हाथी पर [9]आसीन का तिथियुक्त ( 1698 ई. ) मिला है, यह राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। हाथी की आकृति कोटा और बून्दी की तरह मांसलता युक्त और सुन्दर नहीं है। मेवाड़ की पगड़ी में अब परिवर्तन स्पष्टतः देखा जा सकता है। अमर शाही पगड़ी का प्रचलन इसके समय में हुआ। यह छोटी और अपेक्षाकृत पतली धारीदार थी। महाराणा अमर सिंह द्वितीय के राज्य में चित्रकला की शैली में प्रमुख परिवर्तन निम्नांकित हुये :—

(1) घटनाओं से सम्वद्ध बड़े चित्रपट बनाना। राजस्थानी चित्रशैली में इसका अंकन मेवाड़ में ही प्रमुख रूप से हुआ। 18 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और 19 वीं शताब्दी में कोटा में एवं मारवाड़ में भी इस प्रकार के चित्र पट्ट बनाये गये हैं। मेवाड़ में 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार के वर्णनात्मक चित्र पट्ट बनाये गये थे। अमर सिंह के समय का 1708 ई. का एक चित्र महाराणा के दरबार के दृश्य का, जिसमें आमेर के राजा ( सवाई ) जय सिंह, मारवाड़ के शासक अजीत सिंह एवं इनके सामन्त आदि भी थे, का अंकन है। इन चित्रपट्टों की विशेषता लम्बे लेख हैं। प्रत्येक चित्र के पीछे घटना से सम्बन्धित लम्बे लेख लिखे गये हैं। शिकार के चित्रों के लेख बड़े ही रोचक हैं। इसमें शिकार की पूरी घटना, शिकार में जाने वाले स्टाफ, घोड़ों की विस्तृत तालिका आदि-आदि। संभवतः चित्रकार भी शिकार के समय जाते थे। कुछ लेखों में इसका स्पष्टतः उल्लेख है।

(2) रेखांकन बनाना-बिना रंगों के उपयोग किये केवल काली स्याही में ही रेखांकन बनाये गये हैं। महाराणा अमर सिंह द्वितीय के समय के ऐसे कई सुन्दर चित्र बड़ी संख्या में मिले हैं।

---

9. मिनिएचर पैन्टिग्ज़्स ( नई दिल्ली ) पृष्ठ 36।

इस काल के चित्रों में मारकण्डेय पुराण ( 1708 ई. ), रामायण वालकांड ( 1712 ई. ), गीत गोविन्द आदि प्रमुख हैं ।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय के बाद उसका पुत्र संग्राम सिंह द्वितीय राजगद्दी पर वैठा । उसका मंत्री पंचोली विहारी दास था । मुगल सम्राट फरूखसियर से उसकी बड़ी मित्रता थी । उसके समय में बसाड़ और मन्द सौर का क्षेत्र मेवाड़ में मिलाया गया । वादशाह ने कुछ दासियां भेंट स्वरूप भेजी, जिनके लिये "सहेलियों की वाड़ी" नामक उद्यान भी बनाया, जो आज उदयपुर के प्रमुख स्थलों में से एक है । इसके समय में बने चित्रपट्टों में कई महाराणा उदयपुर के "जोतदान" नामक संग्रह में हैं । खेजड़ी पूजन ( जोतदान सं. 2/9 ), स्थापना पूजन ( जोतदान 2/15 ), जेठियों की लड़ाई देखते हुये महाराणा ( जोतदान 2/20 ) चोगान में सवाई जयसिंह और करौली के गोपाल पाल के साथ हाथियों की लड़ाई देखना ( जोतदान सं. 2/60 ) गणगौर की सवारी ( जोतदान सं. 2/103 ) महाराणा अपने पौत्र प्रताप सिंह के जन्म का उत्सव मानते हुये ( जोतदान सं. 2/11 ) एवं जग मन्दिर में मनोविनोद ( कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में 1720 ई. ) ।

जोतदान के अभिलेखों से पता चलता है कि लगभग 100 से भी अधिक चित्र संग्राम सिंह द्वितीय के राज्य में वनाये गये थे । इनमें भीड़ भरे दृश्यों को बड़े सुन्दर ढंग से बनाया गया है । इनमें प्रायः एक से अधिक दृश्यों को एक ही पट्ट में अलग 2 चित्रित किया गया है । सफेद रंग का जामा जो दीर्घ काल तक मेवाड़ में दरवारी पोशाक था, के ऊपर रंग रंगीली पगड़ियां वहुत ही सुन्दर दिखाई देती हैं ।

इन वड़े चित्रपटों के अतिरिक्त ग्रन्थ चित्रण भी हुआ है । विहारी [10]सतसई ( 1719 ई. ) सुन्दर शृङ्गार ( दोनों प्रताप संग्रहालय ) गीत गोविन्द ( 1716 ई. ) ( कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में ) गीत गोविन्द ( जगन्नाथ द्वारा चित्रित ), मालती माघ, कृष्ण रूक्मिणी की वेली आदि ( प्रताप संग्रहालय ) । उस समय जगन्नाथ एक उल्लेखनीय चित्रकार था । गीत गोविन्द की एक अन्य प्रति, जिसे 1723 ई. में चीता खेडा ग्राम में स्थानीय जागीरदार जसकरण के लिए चित्रित किया था और अब प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर के संग्रह में

10. स्टुअर्ट केरीवेल्स और माइलो क्लेवेलेंड वीच ग्रोन एण्ड पिकोक (न्यूयार्क 1963 ) प्लेट सं. 37 ( ए ) ( वी ) । राधाकृष्ण वशिष्ट उपरोक्त पृ. 28

है, एक सुन्दर चित्रित ग्रन्थ है। इसमें विभिन्न रंगों के मिश्रण से लम्बी दुबली स्त्री आकृतियां पर्याप्त आकर्षक हैं। एक अन्य ग्रन्थ भक्त माल ( 1732 ई. ) ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) भी चित्रित किया गया था। स्वर्ण का अधिकाधिक प्रयोग बताता है कि यह एक धनी सीताराम माहेश्वरी परिवार के लिये बनाया गया था। इसमें 14 चित्र हैं। कबीर, नरसी मेहता आदि भक्तों से सम्बन्धित घटनाओं को सुन्दर ढंग से चित्रित किया है।

संग्राम सिंह द्वितीय के बाद उसका पुत्र जगत सिंह द्वितीय 1734 ई. में राजगद्दी पर बैठा। इसने हुरड़ा में हुये राजस्थान के राजाओं के सम्मेलन में अध्यक्ष पद सम्भाला था। यह लम्बे समय तक जयपुर के उत्तराधिकार के युद्ध में उलझा रहा और अपने भांजे माधव सिंह को राज्य दिलाने का भरसक प्रयत्न किया। अतएव राज्य को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके बावजूद उसे चित्रकला से प्रेम था। उसके समय में भी बड़ी संख्या में चित्रपट्टों का अंकन एवं ग्रन्थ चित्रण का कार्य किया गया था। इनमें से कुछ बहुत उल्लेखनीय है :—

(1) महाराणा द्वारा अपनी रानियों के साथ चौपड़ खेलना ( कलाकार जीवा 1743 ई. सोनी संग्रह उदयपुर में था ) (2) महाराणा का बाग में आनन्दोत्सव मनाना ( कलाकार भगवान का पुत्र नग्गा 1751 ई. बड़ौदा संग्रहालय )। (3) महाराणा महारानी से सुगन्धित पदार्थ ग्रहण करते हुए ( बड़ौदा संग्रहालय 1751 ई.—कलाकार जीवा )। (4) सवारी का दृश्य ( जोतदान सं. 1/134 तिथि 1744 ई. ) (5) चौगान में हाथियों की लड़ाई का दृश्य ( जोतदान सं. 1/216 तिथि 1750 ई. )। (6) पिछौला में मनोरंजन ( विलियम पी. वुड संग्रह न्यूयार्क ) (7) "तीखला मंगरा" में शिकार ( जोतदान सं 1/224 तिथि 1736 ई. ) आदि। इनके अतिरिक्त कई ग्रंथ भी चित्रित किये गये थे। "मुल्ला दो प्याजा" ( कुल चित्र 263 ) पृथ्वीराज रासो ( कुल चित्र 628 ) ( दोनों प्रताप संग्रहालय, उदयपुर ) दुर्गा सप्तशती ( 56 चित्र 1740 ई० के लगभग ) ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) आदि उल्लेखनीय हैं। दुर्गासप्तशती ग्रंथ संभवतः उदयपुर राज्य परिवार से सम्बन्धित था। इसके ऊपर केशर एवं चन्दन के छींटे दो जगह लगे हुए हैं। इसके अतिरिक्त पत्र 52 ( बी ) पर भी महाराणा भीमसिंह और गुसाईं जी का चित्र है। पत्र संख्या 8 पर महाराणा जगतसिंह द्वितीय को दुर्गा सप्तशती का श्रवण करते हुये चित्रित किया है। "मुल्ला दो प्याजा" में

तत्कालीन समाज में प्रचलित कई दोषों का चित्रण किया गया है। इसी समय का 1741 ई में केलवा ( राजनगर मेवाड़ ) में चित्रित "दुश्चरिता" का एक सुन्दर दृश्य गंगाराम नामक चित्रकार ने बनाया है। ( कुं० संग्राम सिंह संग्रह )। तीन विज्ञप्ति पत्र भी इसी समय चित्रित किये गये थे, जिनमें उदयपुर के कई दृश्य हैं।

जगतसिंह के बाद उनका पुत्र प्रताप सिंह द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसको 1745 ई. के आसपास इसके पिता ने इसे बंदी बना लिया था। बागौर के ठाकुर नाथ जी ने इसमें सक्रिय सहयोग दिया था। अतएव प्रताप द्वितीय के गद्दी पर आते ही नाथजी ने विद्रोह कर दिया। अतएव महाराणा को इस ओर विशेष ध्यान देना पड़ा। इसके समय के कुछ चित्र मिले हैं। (1) महाराणा शिकार करते हुये ( जोतदान 2/14 तिथि 1752 ई. ) (2) झूला झूलते हुये महाराणा ( न्यूयॉर्क[11] के श्री रेल्फ वेनकेप के संग्रह में ) आदि। प्रताप सिंह द्वितीय की मृत्यु 1754 ई. में हो गई। इसके बाद उसका अल्प वयस्क पुत्र राजसिंह द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसके समय में नाथ जी का विद्रोह बराबर जारी रहा। इसके समय के कुछ सुन्दर चित्र मिले हैं।

(1) महाराणा छत्रसाली पर खड़े बिजली देखते हुये ( 1757 ई. कुं. संग्राम सिंह संग्रह ) (2) खड्ग थापना ( कुं. संग्राम सिंह संग्रह 1753 ई. के लगभग ) (3) महाराणा की सवारी का दृश्य चित्रकार सुवा ( जोतदान 1/5 ) 1760 ई. (4) महाराणा के गोगुन्दा में विवाह का दृश्य ( 1755 चित्रकार सुवा दयाल और अलावक्ष ) आदि।

राजसिंह द्वितीय की मृत्यु के बाद मेवाड़ से भयंकर गृह युद्ध छिड़ गया। अरि सिंह महाराणा बना। उनके क्रोधी स्वभाव के कारण अन्य लोग उनके विरोधी हो गये। विद्रोही जागीरदारों ने सिंधिया महादजी को तैयार किया। क्षिप्रा के युद्ध में हारने और उदयपुर के घेरे के बाद कई संधि में मेवाड़ के शासक को अपना विशाल क्षेत्र मराठों को सौंपना पड़ा। इसी झगड़े के फलस्वरूप गोरवाड़ का क्षेत्र भी मारवाड़ के शासक विजय सिंह के हाथ आ गया। इन घटनाओं के होते हुये भी चित्रकला के क्षेत्र में अरि सिंह का शासन काल बड़ा प्रसिद्ध है। इसके समय की कुछ विशेषतायें ये हैं :—

---

11. एस. सी: वेल्स—ए-फ्लावर फ्रोम एवरी मिडो ( न्यूयार्क 1973 ) स. 8 पृष्ठ 28। शर्मन ली ने—राजपूत पेन्टिग्ज ( न्यूयार्क 1960 ) सं: 18 में भी इस काल का एक चित्र प्रकाशित किया है।

1. अमरशाही पगड़ी के स्थान पर महाराणा ने खंजनशाही पगड़ी का प्रचलन किया।
2. बून्दी शैली के समान महाराणा का अपनी महारानी को गले लगाते हुये दृश्यों में चित्रित किया जाना।
3. शिकार के चित्र अत्यधिक बने किन्तु इनमें पृष्ठभूमि में प्रायः पेड़ पौधों का अंकन नहीं है।
4. महाराणा संग्राम सिंह द्वितीय के समय से प्रचलित भीड़ भरे दृश्यों के चित्र बनाने के स्थान पर सादे दृश्यों का अंकन अधिक किया गया है।

इसके समय के कुछ चित्र निम्नांकित हैं—

(1) जगनिवास में मनोविनोद ( जोतदान द्वितीय सं. 3/94 तिथि 1768 ई. )। (2) सवारी का दृश्य ( बम्बई के निजी संग्रह में 1761 ई. ) (3) महाराणा झाली रानी और अपने पुत्र हमीर के साथ ( भारत कला भवन 1763 ई. चित्रकार नगा ) (4) सरबत विलास महल से जुलूस ( जोतदान द्वितीय नं० 3/5 तिथि 1764 चित्रकार संजा वसना और साह जी ) (5) शेर का शिकार ( 1762 ई० चित्रकार साहजी कुं० संग्राम सिंह संग्रह )। अन्य शिकार के चित्रों में घोड़ों के अंकन पर काफी जोर दिया गया। चित्रकार शिवा और जुगश्री ने घोड़ों की कई अच्छी तस्वीरे बनाई हैं। हाथियों के लड़ाई के कई दृश्य भी चित्रित किये गये हैं ( जोतदान 3/2 तिथि 1764 चित्रकार केसुराम ( जोतदान प्रथम सं. 3/4 तिथि 1767 ई. ) उसके समय के बने पशुओं के चित्रों में मांसलता के प्रदर्शन का भी पूरा ध्यान रखा गया है।

अरि सिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र हमीर द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह थोड़े ही समय में मर गया, और इसके बाद उसका छोटा भाई भीम सिंह द्वितीय गद्दी पर आया। इसने लम्बे समय तक राज्य किया। इसके राज्य में सन् 1817 तक मराठे, पिंडारी और कई लुटेरों ने भयंकर उत्पात मचाया। मेवाड़ का अधिकांश पूर्वी भाग मराठों के अधिकार में आ गया। सन् 1818 की संधि के बाद कर्नल टॉड के प्रयत्नों से मेवाड़ में शांति हुई। इसलिए चित्र प्रायः कम ही मिले हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

(1) महाराणा भीमसिंह अपने ज्येष्ठ पुत्र अमर सिंह के साथ महलों के चौगान में सवारी करते हुये ( 1815 ई. के लगभग कुं. संग्राम सिंह संग्रह )। (2) महाराणा एकलिंग जी का पूजन करते हुये ( जोवदान 4/302

तिथि 1802 ई. )। (3) महाराणा भीमसिंह महाराव कोटा और बनेड़ा दरवार के साथ ( अगरचंद नाहटा संग्रह )। (4) कर्नल टाड से सम्बन्धित कई दृश्य बने हुये हैं। स्वयं टॉड को भी चित्र बनवाने में रूचि थी। उसने घासी नाम के एक चित्रकार को नियुक्त किया था। टॉड की सवारी का सुन्दर चित्र विक्टोरिया एवं अलवर्ट म्यूजियम लन्दन में है ( 1820 ई. के लगभग ) इनके अतिरिक्त सारंगधर एवं सारंग तत्व ( प्रताप म्यूजियम, उदयपुर ) एवं निसानी सरदार सिंह जी की ( 1825 ई. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) उस काल की चित्रित कृतियां हैं।

भीमसिंह के वाद उसका पुत्र जवान सिंह गद्दी पर वैठा। "वाड़ी महल में भागवत के पाठ" का सुन्दर और बड़ा चित्र ( जौतदान द्वितीय 6/5 तिथि 1835 ई. ) बड़ा महत्वपूर्ण है। यह चित्र अभी भी वाड़ी महल में लगा हुआ है। इसमें तत्कालीन दरवार की वैठक का पता चलता है। इस महाराणा के आदेश से रसिक प्रिया का चित्रण भी शुरू हुआ था, जो सन् 1838 ई. में इसकी मृत्यु हो जाने से अधूरा रहा और केवल 8 चित्र ही वने। ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) सन 1831 में एक विज्ञप्ति पत्र उदयपुर में संभवतः [12]जोरावरमल वाफणा महेता शेर सिंह आदि के प्रयास से चित्रित कराया गया था।

इस प्रकार से संग्रामसिंह द्वितीय के समय से प्रचलित पद्धति जवान सिंह के राज्य तक जारी रही। जवान सिंह की मृत्यु के वाद वागौर ठिकाने से महाराज नाथ जी की संतति से सरदारसिंह गोद आये। अव सफेद जामे के स्थान पर रंगीन पोशाक कई सम्मिलित रंगों के प्रयोग देखने को मिलते हैं। मेवाड़ चित्रकला जिन चमकीले लाल, हिंगल, पीले आदि रंगों के लिए प्रसिद्ध थी, अब लुप्तप्रायः हो गयी है। खंजनदार पगड़ी के स्थान पर नई पगड़ी का प्रयोग भी दिखाई देता है। चित्रों की संख्या काफी अधिक है किन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से ये अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। महाराणा स्वरूप सिंह के समय चित्रकार परशुराम और तारा बड़े प्रसिद्ध थे। उस महाराणा के राज्य के कई चित्र मिले हैं। इनमें घोड़ों का फाग ( 1850 ई. जोतदान द्वितीय 8/5 ) शिकार के कुछ दृश्य ( जोतदान द्वितीय 8/8 तिथि 1850 चित्रकार परशुराम ) हाथियों की लड़ाई ( जोतदान द्वितीय 8/2 1853 ई. चित्रकार अम्बाव ) आदि उल्लेखनीय हैं। कुछ ग्रन्थ भी चित्रित हुये। अश्व चिकित्सा ( 1844 ई. )

12: श्री अगरचन्द एवं भंवरलाल नाहटा द्वारा जैन जनरल में प्रकाशित।

में कुछ घोड़ों के चित्रों के अतिरिक्त महाराणा और उसके सरदारों का एक सुन्दर चित्र है।

चित्रों के संग्रह का कार्य महाराणा की ओर से पांडे मोहन लाल को सौंपा गया ( 1840 ई. ) अतएव चित्रशाला को पाण्डे की ओवरी भी कहा जाता है।

स्वरूप सिंह के वाद शम्भुसिंह उत्तराधिकारी हुये। उसके राज्य के भी वई चित्र मिले हैं। इनमें महाराणा का रूप सागर में गोठ करना ( 1867 ई. चित्रकार तारा ( जोतदान द्वितीय 9/2 ), (2) महाराणा का मगरा मंठौर का दृश्य ( 1867 चित्रकार शिवलाल ) नाचिवेतो-पाख्यान और प्रहलाद चरित्र ( राम स्नेही साधु बिजेराम द्वारा चित्रित 1862 ) एवं प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर में संग्रहीत ) रसिकप्रिया ( 1869 ई. ) में और पूर्ण मासी कथा ( 1873 ई. ) ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) आदि इस काल की सुन्दर कृतियां हैं। महाराणा सज्जन सिंह के समय में बने "सज्जन यश वर्णन" और जगत विनोद ( 1874 ई. ) ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) में तत्का-लीन कुछ, चित्र बने हुये हैं। महाराणा फतहसिंह को शिकार से विशेष अभि-रुचि थी। इनके समय में वड़ी संख्या में शिकार के चित्र बने हैं, जिनके पींछे घटना से सम्बन्धित लम्वे लेख लग रहे हैं।

## बून्दी चित्रशैली

वूंदी राज्य की स्थापना हाड़ा देवा ने की थी। 15 वीं और 16 वीं शताब्दी में बून्दी के हाड़ा शासक मेवाड़ के सामन्त थे एवं मेवाड़ के कई युद्धों में सक्रिय सहयोग दिया था। महाराणा सांगा के समय जब हाड़ी कामेती के बेटों को रथा थम्वोर का क्षेत्र जागीर में दिया था, तब सूरजमल हाडा को उनका संरक्षक नियुक्त किया था। इसी कारण इसे महाराणा रतनसिंह ने धोखे से मारा और स्वयं भी मर गया। फिर भी हाडाओं और शिशोदिया के मधुर सम्बन्ध महाराणा विक्रमादित्य और उदयसिंह तक बने रहे। हाड़ा सुर्जन को अकबर के सामयिक इतिहासकारों ने महाराणा उदयसिंह का सामंत लिखा है। 1568 ई. में चित्तौड़ पतन के बाद सुर्जन ने सम्मान जनक संधि करके रणथंमोर अकबर को सौंप दिया और उसके बदले बनारस में जागीर ले ली जहाँ उसने महल घाट आदि बनवाये। इसी कारण से प्रारम्भिक मेवाड़ और बूंदी चित्र शैलियों में कई साम्यताएँ थी।

मुगल चित्रशाला से निकले हुये कई चित्रकारों ने स्थानीय परम्परागत

चित्र परंपराओं को मुगल परिवेश में ढालने का प्रयास किया था। इसी के फलस्वरूप नयी चित्र शैलियों का जन्म हुआ। 1591 ई. में जब सुर्जन के उत्तराधिकारियों के पास बनारस जागीर में था तब चुनाव ग्राम में एक रागमाला चित्रित की[1] गई थी। इसमें नारी चेहरे कुछ विशिष्टता लिये हुये हैं। जगदीश मित्तल एवं कार्ल खांडालावाला द्वारा प्रकाशित भागवत के स्त्री पात्रों एवं तूती नामा में राजपूत नारी के चित्रण के ये अधिक निकट हैं। ऊँचे उठे हुये उरोज, फूले हुये गाल, बड़ी-बड़ी आखें, फैली हुई कमर, काली चोली पहनी नारी पर्याप्त आकर्षक लगती है। यह रागमाला महत्वपूर्ण रही है और कालान्तर में इसकी ही प्रतिलिपियाँ बून्दी में की गई थी। 1600-1625 ई. के मध्य में चित्रित कई रेखांकन मिले हैं (राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली) जो चुनार रागमाला से मिलते हैं।

बून्दी शैली की दूसरी महत्वपूर्ण कृति भागवत[2] (राजकीय संग्रहालय कोटा) है। इसे संभवतः राव रतन (1607-1631 ई.) के राज्य में चित्रित किया था। इसमें कई दृश्य एवं मानव आकृतियाँ प्रान्तीय मुगल शैली में चित्रित रामायण (1616 ई. विक्टोरिया एण्ड एलवर्ट म्युजियम, लंदन) से मिलती है। स्थापत्य भी मुगल है किन्तु इसमें बूंदी शैली के कई ऐसे तत्व मौजूद हैं जो कालान्तर में जाकर उस चित्र शैली की पहचान के लिए आवश्यक हो गये थे। इसमें वृक्ष, झील, कमल, आदि का चित्रण बून्दी शैली के अनुरूप है।

राव रतन के कई वृत्त चित्र भी मिले हैं। एक सुन्दर आवक्ष वृत्त चित्र (bust-portrait) कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में है। इस चित्र में भी मुगल प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इस प्रकार से 1640 ई. तक बून्दी शैली पर मुगल प्रभाव अत्यधिक दिखाई देता है। रावरतन के बाद उसका पौत्र राव छत्रशाल गद्दी पर बैठा। वह भी अपने पिता गोपीनाथ एवं दादा रतन की तरह निरन्तर मुगल सेवा में रहा था एवं आगरे के गवर्नर के पद पर रहने से वह वहाँ की मुगल गतिविधियों के भी अधिक संपर्क में रहा होगा।

---

1. माइलो क्लेवेलेण्ड बीच—राजपूत पेन्टिग्ज आफ बूँदी एण्ड कोटा (न्यूयार्क 1974) पृष्ठ 9। प्रमोद चन्द्र—बूँदी रागमाला (दिल्ली) पृष्ठ 1-2। स्टुअर्ट केरी वेल्स—ए फ्लॉवर फ्रोम एवरी मिडो (न्यूयार्क 1973) पृष्ठ 40-41।
2. रूपलेखा 19 सं. 1-2 पृष्ठ 57। माइलो क्लेवेलेण्ड बीच उपरोक्त पृष्ठ 11।

इसके शासन काल का "सुन्दरगज[3] हाथी पर सवारी का दृश्य" ( 1650 ई. के लगभग कानोड़िया संग्रह ) महत्वपूर्ण है। इसमें अंकित हाथी की झूल एवं साज सज्जा आगे चलकर बून्दी शैली की अपनी एक विशेषता हो गई थी। संभवतः बून्दी में महलों में चित्रण महाराजा छत्र साल के समय में प्रारम्भ हुआ हो।

छत्रसाल के बाद भाव सिंह ( 1659-1682 ई. ) गद्दी पर बैठा। इसे भी लंबे समय तक दक्षिण में रहना पड़ा था। भाव सिंह के समकालीन कुछ वृत्त चित्र मिले हैं। इनमें भाव सिंह और उनकी रानी को विभिन्न भाव भंगियों में दिखाया गया है। इनमें से कुछ में इसका एक हाथ रानी के कंधे पर रखा हुआ दिखाया गया है। चेहरों की आकृतियां एवं अन्य समानताओं के आधार पर इन चित्रों को समकालीन मानते हैं। इनमें से एक पर 1662 ई० तिथि भी दी हुई है। बून्दी शैली की 1660 ई. की कुछ रागमाला भी मिली है जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली, जगदीश कमला मित्तल संग्रहालय, कुं. संग्राम सिंह आदि के संग्रह में है। उस समय बून्दी शैली में निम्नांकित विशेषतायें प्रसिद्ध हो चुकी थीं :—

1. पुरुष आकृतियां लम्बी और पतली एवं स्त्री आकृतियों के मुँह गोलाई लिये हुये हैं एवं इनकी कमर बहुत पतली है।
2. चमकीले रंगों का प्रयोग यद्यपि मेवाड़ का प्रभाव प्रदर्शित करता है किन्तु चित्रकार ने इन्हें बूंदी शैली में बड़ी कुशलता से सजाया है। हिंगलू रंग के स्थान पर केशरिया रंग का आधिक्य मिलता है।
3. चौकोर बने भवनों का पृष्ठभूमि में बनाना।
4. चित्रों के नीचे के भाग में प्रायः जल, कमल, बतख और पृष्ठभूमि में सघन वनस्पति ( Lush-vegetation ) केले के पेड़ आदि का चित्रण मिलता है।
5. रानी के गले में हाथ डाले हुये या बाहुपाश में बांधे हुये दृश्य बूंदी शैली में ही आरम्भ किये गये थे। आगे चलकर अरि सिंह के समय मेवाड़ में भी प्रचलित हुये थे।

1680 ई० के आसपास बूंदी शैली का पर्याप्त विकास दिखाई देता है।

---

3. डब्ल्यू. जी. आर्चर-राजस्थानी पेन्टिंग्ज फ्रोम श्री गोपी किशन कानोड़िया पृष्ठ 19 प्लेट तृतीय। पेन्टिंग्ज फ्रोम बूंदी एण्ड कोटा पृष्ठ 3 प्लेट तृतीय।

पूर्ण गोलाई लिये लाल रंग में रंगे स्त्री मुख पर्याप्त आकर्षक हैं। गहरे चमकीले रंगों का प्रयोग बराबर मिलता है। रागमाला (लगभग 1680 ई० ) ( विक्टोरिया एलबर्ट म्यूज़ियम, कानोड़िया संग्रह ) भागवत ( प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) में इसी प्रकार की आकृतियां हैं। चित्रकार तुलसी द्वारा भारत सिंह का वृत्त चित्र ( 1680 ई० कुं० संग्राम सिंह संग्रह ) जिसमें भी गोल चेहरा और नाक कुछ आगे निकला हुआ है, भी इन्हीं मापदंडों के अनुरूप है। इसे माइलोवलेवेलेण्ड वीच नामक विद्वान ने अपनी पुस्तक के ( प्लेट 28 ) में गलती से अनिरुद्ध सिंह लिखा है। चित्रकार तुलसी द्वारा बनाया गया भाव सिंह का चित्र भी उपलब्ध हुआ है। भाव सिंह के बाद अनिरुद्ध सिंह ( 1683-1697 ई० ) उत्तराधिकारी हुआ। यह भी दक्षिण में मुगल सेना में व्यस्त रहा था। इसका एक समकालीन चित्रकार मोहन था। इसके द्वारा चांद देखते हुये युगल प्रेमी (वि० सं० 1743) 1686 ई० प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई ) मिला है। इसी के समकालीन एक सुन्दर "फाग" का चित्र ( कुं० संग्राम सिंह संग्रह ) है। इसमें रंगों का सुन्दर प्रयोग एवं पात्रों की गति का चित्रण द्रष्टव्य है। पृष्ठभूमि में हरे और केशरिया रंगों का प्रयोग मिलता है। मोतीचन्द खजान्ची संग्रह ( अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली ) में इस काल की रागमाला के कुछ पत्र, मक्खन चोरी का दृश्य आदि हैं।

अनिरुद्ध सिंह के बाद बुद्ध सिंह ( 1697-1741 ई० ) हाडा शासक रहा था। मुगल बादशाह की अप्रसन्नता से कुछ समय तक इसे कठिनाइयां झेलनी पड़ी। कालान्तर में सवाई जयसिंह ने इसे हटाकर इसके स्थान पर दलेल सिंह को शासक बनाया ( 1730 ई० ) संभवतः इस काल में बूँदी के कई चित्रकार कोटा, उणीयारा आदि स्थानों पर चले गये। राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में संग्रहीत[4] रसिकप्रिया ( लगभग 1720 ई० ) को विद्वान लेखक आर्चर बूँदी शैली की मानते हैं। माइलो बलेवलेण्ड बीच इसे कोटा शैली की मानते हैं। संभवतः बूँदी के चित्रकारों ने इसे कोटा में जाकर चित्रित किया हो। इसमें पुरुष आकृतियां समकालीन कोटा के रामसिंह प्रथम से मिलती है किन्तु नारी आकृतियां एवं अन्य सारी विधाएँ बूँदी शैली की है। बुधसिंह हाड़ा कौल मत का मानने वाला था। अतएव रसिक प्रिया का चित्रण उसे रुचिकर होगा यह बताना कठिन है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर इसे बूँदी शैली में कोटा में चित्रित की हुई मानना चाहिये। यशोधर चरित ( पार्श्वनाथ मंदिर, जयपुर

4. ललित कला वर्ष।

लगभग 1720 ई०) भी इस काल की एक सुन्दर कृति है। इसमें चमकीले रंगों का प्रयोग हुआ है। समकालीन कृति गीत गोविन्द, जिसका चित्रण चीता-खेड़ा में 1719 ई. में मेवाड़ शैली में हुआ है, के रंगों से इसका मिलान होता है। चीता खेड़ा मेवाड़ और बूँदी की सीमा पर है। यशोधर चरित में स्थापत्य का जो चित्रण हुआ है, उसमें स्पष्टतः मेवाड़ का प्रभाव है। किन्तु मानव आकृतियाँ बूँदी शैली से साम्यता रखती हैं। पुरुष आकृति बूँदी के महाराजा भाव सिंह से मिलती है ( माइलो क्लेवेलैण्ड वीच बूँदी पेटिंग्ज प्लेट 19 )।

दूसरी महत्वपूर्ण कृति यशोधर चरित ( 1731 ई. ) है। कला की दृष्टि से यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। रंग भी चमकीले नहीं हैं। इसे पं. लूणकरण के लिये बूँदी में सं. 1788 ( 1731 ई. ) में आदिनाथ चैत्यालय में चित्रित किया गया था। इसमें कई समकालीन पुरुषों की छोटी-छोटी आकृतियाँ नाम सहित दी गईहैं। इसके अतिरिक्त 1700-1740 के मध्य तिथि युक्त केवल यही कृति बूँदी से मिलते हैं। अतएव महत्वपूर्ण है। 1742 ई. का एक नारी का चित्र बूँदी शैली का मिला है। बुधसिंह हाड़ा को वहिष्कृत करके बूँदी पर दलेल सिंह का अधिकार था। 1750 ई. के वाद बुध सिंह का पुत्र उम्मेद सिंह वापस उत्तराधिकारी हो सका। उम्मेदसिंह के राज्य में चित्रकला में मुख्य 6 रूप से 2 प्रकार की स्थितियाँ देखने को मिलती है। कुछ चित्र, जिनमें मोटी लाईनों का प्रयोग अधिक मिलता है मुख्य रूप से सारौला ( कोटा ) ठिकाने से प्राप्त चित्रों में देखने में मिलता है, जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय आदि में है। दूसरे प्रकार के चित्र संभवतः समकालीन मुगल या अवध शैली के चित्रों से प्रभावित हैं। हाथियों के कई चित्र वहुत ही सुन्दर वने हैं। लोककला में भी कई कथायें चित्रित हुई है, जिनमें मधु मालती मुख्य है।

उम्मेद सिंह के राज्य त्याग के वाद इसका उतराधिकारी विशन सिंह हुआ। इसे शिकार का वड़ा प्रेम था किन्तु शिकार के चित्र अपेक्षाकृत कम वने हैं। इसके समय में बारामासा रागमाला राजाओं के वृत्त चित्र आदि वने हैं। विशन सिंह के बाद रामसिंह ( 1821-1889 ) बूंदी का शासक हुआ। राजमहलों में स्थित चित्रशाला का चित्रण इसके राज्य में पूर्ण हुआ था। एक चित्रकार

---

5. माइलो क्लैवेलैण्ड वीच उक्त ग्रन्थ पृष्ठ 35।
6. आर्चर पेन्टिंग्ज फ्रोम बूंदी एण्ड कोटा ( लन्दन ) पृष्ठ 7-8।
7. बुलेटिन आफ प्रिन्स आफ वेल्स भाग 5 पृष्ठ 25-35।

चैन राम की कुछ कृतियां पश्चिमी शैली से प्रभावित 1880-1890 ई. के आसपास मिलती हैं जो कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में हैं।

### बीकानेर चित्रशैली

राव जोधा के पुत्र राव बीका द्वारा बीकानेर राज्य की स्थापना की गई थी। बीकानेर नगर 1485 ई. के आसपास बसना शुरु हुआ था एवं कई उल्लेखनीय श्रेष्ठि वर्ग भी वहां बसे थे। यहाँ कई कल्पसूत्र चित्रित किये गये थे इनमें से एक श्री पूज्य संग्रह वि. सं. 1603 ( 1548 ई. ) का भी है। इससे पता चलता है कि चित्रकला की परम्परा यहां विद्यमान थी। राव कल्याण मल ने 1570 ई. में अकबर की अधीनता स्वीकार की थी। अत्यन्त विश्वस्त सम्बन्ध होने से इस राजवंश का निरन्तर मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रहे हैं। राव सिंह को 4000 जात, 4000 सवारों का मनसब भी प्राप्त था। करमचन्द बच्छावत बीकानेर का एक प्रमुख श्रेष्ठि था, जिसका अकबर के दरबार में भी अत्यन्त सम्मान था। राय सिंह को चित्रों के संग्रह की बड़ी रुचि थी। दक्षिण से कई चित्र इसने संग्रहीत किये हैं जो आज भी बीकानेर राजमहल में सुरक्षित हैं। यहां 16 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चित्रकला की प्रक्रिया अवश्य जारी रही होगी। 1606 ई. में मोज राठौड़ का वृत्त चित्र ( बीकानेर राजमहल में संग्रहीत ) शाह मोहम्मद के पुत्र नूर मोहम्मद ने चित्रित किया था। इसमें चमकीले रंगों का प्रयोग मिलता है एवं इसके ऊपर के भाग में बेलबूटों एवं कंगूरों का कार्य वर्णनीय है। भागवत पुराणों के कुछ पत्रों ( पाल बी वाल्टर संग्रह न्यूयार्क 1600 के लगभग ) को कुछ विद्वान बीकानेर में चित्रित हुआ मानते हैं। इसी प्रकार उक्त संग्रह में मेघ मलार राग का 1606 ई. तिथि लगा चित्र भी इसी प्रकार बीकानेर से सम्बद्ध है। राजकुमार दलपत विद्या व्यसनी था।

राम सिंह के बाद सूर सिंह ( 1620-1630 ई० ) उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसके बाद कर्ण सिंह बीकानेर का शासक बना। इस समय बीकानेर में मुगल चित्र शैली से प्रभावित शैली एवं स्थानीय शैली की कृतियाँ भी मिलती हैं और बीकानेर शैली का निश्चित रूप उस समय तय नहीं हुआ था। बेली कृष्ण रूक्मिणी ( 1940 ) ई. ) एवं देवी माहात्म्य ( दोनों अनूप संस्कृत पुस्तकालय ) इस काल की सुन्दर कृतियाँ हैं। बेली के मुख पृष्ठ पर पृथ्वीराज और उसकी पत्नी के चित्र बने हैं। मूंछे नीचे झुकी हुई है जो राव भोज के चित्र में दिखाई गई मंछों से मिलती हैं। देवी माहात्म्य में

युद्ध का दृश्य वर्णनीय है। इसमें मुगल शैली के विपरीत जैन चित्रण की परम्परा से प्रभावित है। राव भोज के चित्र में छोटी पगड़ी दिखाई देती है, जब कि इसमें मोटे साफे में मुगल प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था। चित्रकार अली राजा को कर्ण सिंह ने नियुक्त किया था। लक्ष्मीनारायण का चित्र (मोतीचन्द्र खजांची संग्रह अब राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में) इसके द्वारा बनाया गया है इसमें भगवान नारायण की आकृति अन्य पात्रों की अपेक्षा लम्बी है। यह मध्यकालीन चित्रकला का प्रभाव प्रदर्शित करती है। बीकानेर का प्रभाव पोषाक और रंग योजना में है। इसमें बैंगनी और हरे रंगों का प्रयोगाधिक्य है। चित्रकार महमूद द्वारा बनाये मुगल शाहजादी के वृत चित्र (1653 ई. एवं 1662 ई.) मिले हैं, जो इस समय बीकानेर राजमहल में संग्रहीत हैं। उस्ता ईस्साजी शाह बक्ष भी उस समय बीकानेर में नियुक्त था। इसके द्वारा बनाये गये तिथि युक्त कई चित्र मिले हैं। 1647 ई. में इसके द्वारा एक नारी चित्र महाराजा को होली पर भेंट किया गया था। कर्ण सिंह लम्बे समय तक दक्षिण में रहा था। कई चित्रकारों को सम्भवतः वहाँ से भी लाया हो। उस समय बीकानेर चित्र शैली में दक्षिण का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। उदाहरणार्थ स्वर्ण का अधिकाधिक प्रयोग, पृष्ठ भूमि में झील, लम्बे पेड़ एवं अग्र भाग में छोटा सा तालाब आदि का अंकन। कर्ण सिंह के पुत्र केसरी सिंह ने उस्ता कादिर को दिल्ली से बुलाया था (1670 के पूर्व) जो सामान्यतः "पातसा उस्ताद" के नाम से भी जाना जाता था। राग भैरवी एवं माधवानल कामकन्दला इसके द्वारा चित्रित किये गये थे।

रूक्नुद्दीन चित्रकार इन प्रारंभिक चित्रकारों में सबसे उल्लेखनीय है। इसने कर्ण सिंह और अनूप सिंह की सेवा में रहकर चित्रण किया था। उस समय बीकानेर शैली की विशेषतायें निम्न प्रसिद्ध हुई :—

1. इकहरी तनवन्नी मृग नयनी एवं सुग्गे सी तीखी नासिका वाली कोमल बालाओं का अंकन।

2. नीला, हरा, पीला, भूरा, सिंदूरी और लाल रंगों का अधिक प्रयोग, किन्तु इनमें चमकीलापन नहीं था।

3. पुरुष चित्रों में चिबुक तक लम्बी-लम्बी जुल्फे मुगल शैली की पगड़ी और घुटनों तक लम्बा जामा।

4. ऊंट और हिरण का चित्रण प्रारंभिक बीकानेर शैली में अधिक मिलता है।

5. चित्रण में बारीकी पर अधिक जोर दिया गया। यहाँ तक कि बालों के चित्रण में एक एक बाल को अलग-अलग बनाने की क्षमता दिखाई गई।

नारी अंकन मानों किशनगढ़ शैली का प्रारंभिक स्वरूप रहा हो। किन्तु दोनों में अन्तर स्पष्ट है। बीकानेर चित्रण मुगल चित्रकला के अधिक निकट हैं, और इसी कारण कई बार इसे मुगल शैली की एक प्रशाखा भी कहा गया है। रूक्नुद्दीन के कई तिथि युक्त चित्र भी मिले हैं। इसने रसिक प्रिया 1680-1690 ई के मध्य महाराजा अनूप सिंह के साथ रहकर पूरी की थी। चित्रकार रोडू का शृंगार दर्शन (1678 ई. राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली) संभवतः रूक्नुद्दीन के 1666 ई. में बनाये दर्पण देखती हुई नारी (राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली) से प्रभावित है।

रूक्नुद्दीन के बाद उसके द्वारा प्रारंभ की गई शैली कई वर्षों तक जारी रही। अली राजा का पुत्र हसन राजा रूक्नुद्दीन का समकालीन था। इसके द्वारा बनाया हुआ अर्द्ध वृत्त चित्र में नारी की कोमलता का सुन्दर चित्रण है। चित्रकार लुफा ने "राधा कृष्ण वर्षा में" (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली) बनाया, जिसमें पृष्ठभूमि का अच्छा चित्रण है। अनूप सिंह के शिकार का दृश्य (राजमहल बीकानेर में संग्रहीत तिथि 1694 ई.) में हरे और हल्के रंगों का अत्यधिक प्रयोग है।

अनूप सिंह के बाद स्वरूप सिंह (1698-1700) केवल 2 वर्ष तक ही शासक रहा। इसके बाद सुजानसिंह (1700-1736 ई.) शासक बना। मुगल प्रभाव धीरे-धीरे घटने लगा। चित्रकार कासिम द्वारा "नारी शिविका" (राष्ट्रीय संग्रहालय तिथि 1694) नामक चित्र बनाया गया, जिसमें मुगल प्रभाव कम है। कई तिथयुक्त चित्र भी मिले हैं। पेड़ के नीचे नारी (1728 ई. रा. सं. नई दिल्ली) चित्रकार मोहम्मद द्वारा बनाया गया है। इसके भाई ईसा द्वारा फुलझड़ी छोड़ती नारी (1713 ई.) एवं नारी का वृत्त चित्र (1716 ई.) (दोनों राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली) भी मिले हैं, जिन्हें उसने महाराजा को दीपावली के अवसर पर पेश किये थे। एक रागमाला और एक भागवत के चित्रण के भी संदर्भ मिलते हैं। उस समय कई चित्रकार कार्य कर रहे थे। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—रशीद, नूर मोहम्मद, कासिम, गुट्ट सयाली, हुसैन उस्ताद अहमद, मुराद, गंगाराम आदि।

सुजान सिंह की मृत्यु के बाद जोरावर सिंह (1736-1745) ई. शासक बना। उसके राज्य में बीकानेर राज्य पर कई विपदायें आ गई। इतना होते

हुये भी उस समय कई चित्र बने थे। महलों में कुछ भीति चित्र भी इसके शासन काल के मिले हैं। जोरावर सिंह के बाद गजसिंह ( 1745-1753 ई. ) शासक बना। इसके शासन काल में बीकानेर चित्रकला पर मुगल प्रभाव समाप्त हो गया। धीरे-धीरे अब बीकानेर पर मारवाड़ चित्र शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। गज सिंह के उत्तराधिकारी सूरत सिंह के शासन काल में महिसासुर मर्दिनी का का एक चित्र मोहम्मद के पुत्र हसन द्वारा ( 1786 ई. ) में बनाया। (बीकानेर राज महल में संग्रहीत ) इसमें पीले रंग का पृष्टभूमि में प्रयोग मिलता है। इसके शासन काल में मानवाकृतियों में चौड़े मुंह बनाने का अधिक प्रयोग मिलता है। इस चित्र को दशहरा के अवसर पर महाराजा को प्रेषित किया था। सिंहासन बतीसी ( 1812 ई. एक निजी संग्रह में ) में कई छोटे-छोटे चित्र हैं। उस्ताओं द्वारा चित्रण की परंपरा 20वीं शताब्दी तक बराबर मिलती है। चित्रकार हिसामुद्दीन बीकानेर शैली के बीसवीं शताब्दी के अच्छे चित्रकार कहे जा सकते हैं।

बीकानेर में उस्ताओं के साथ मथेन लोगों द्वारा भी चित्रण कार्य हुआ है। इनकी कला की विशेषता यह है कि इन्होंने लोक कला से प्रभावित चित्रण कार्य किया है। इसमें मुगल प्रभाव कम है। काम बारीक नहीं है। और न अच्छी कुशलता भी प्रदर्शित की गई है। इन्होंने अधिकांशतः जैन कथा चित्रों को चित्रित किया है। गहरे रंगों का प्रयोग इनकी विशेषता है। इनके द्वारा चित्रण का प्राचीन उल्लेख 1667 ई. के अनूप संस्कृत पुस्तकालय के सचित्र ग्रंथ से मिलती है। 1751 ई. वेलि कृष्ण रूक्मिणी ( अनूप संस्कृत लाईब्रेरी ) को अखे राज द्वारा चित्रित किया गया था। इसमें 133 चित्र हैं, जो प्रायः छोटे-छोटे हैं। चंदन मिलियागिरी रास ( 18वीं शताब्दी, नाहटा कला भवन ) मथेन कला का एक अच्छा नमूना है। रामचरित ( तिथि 1831 ई. ) प्रह्लाद चरित ( 1782 ई. ) ( अनूप संस्कृत लाईब्रेरी ) शशी बंदन री वात ( 1775 ई. ) शालिभद्र चौपाई ( 1768 ई. ) को मथेन राम किशन ने चित्रित किया किया था। इस चित्रकार द्वारा चित्रित किये गये कई ग्रंथ मिले हैं। यह यह अच्छा कलाकार था। 1744 ई. में चित्रित एक विज्ञप्ति भी मिली है, जिसे योगीदास के पुत्र अखेराम ने चित्रित किया था। इसमें कई सुन्दर चित्र हैं एवं मथेन कला के साथ उस्ता कला का भी उपयोग है। महाराजा जोरावर सिह एवं जिनभद्र सूरि का चित्र दृष्टव्य हैं। महात्मा किस्तुर चन्द ने बहलीम री बात 1836 ई. में चित्रित की थी। मथेन आशाराम 19 वीं शताब्दी का एक उल्लेखनीय चित्रकार था। इसने हंसराज बद्धराज चौपाई, मृगांक लेखा

चौपाई, विक्रमादित्य चौपाई, खापरा और वार्वा (जयमल ज्ञान भण्डार, पींपाड़) आदि को वीकानेर में चित्रित किया था। बद्रीनारायण पट्ट (लाल चन्द बोथरा के संग्रह में), उदेराम सर की दादावाड़ी वीकानेर के जैन मंदिर के मति चित्र 20वीं शताब्दी के सुन्दर कार्य हैं।

## मारवाड़ चित्र शैली—

मारवाड़ क्षेत्र से प्राप्त अपभ्रंश शैली के चित्र का वर्णन किया जा चुका है। इसके अवलोकन से पता चलता है कि पाली, जालौर, भीनमाल, नागौर आदि नगरों में ग्रंथों के चित्रण की परंपरा विद्यमान थी। मारवाड़ में राठौड़ राज्य की संस्थापना राव सीहा राठौड़ के वंशजों ने की थी। राव मालदेव के समय इसकी सीमाओं में पर्याप्त वृद्धि हुई किन्तु शेरशाह के हाथों हार जाने के वाद मारवाड़ राज्य की स्थिति कमजोर हो गई, और मोटे राजा उदय सिंह ने अकवर से संधि कर के मुगलों की आधीनता स्वीकार कर ली।

मारवाड़ शैली के प्राचीन चित्र के संबंध में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। पाली की रागमाला (कुंवर संग्राम सिंह के संग्रह में) (1623 ई.) और उपदेशमाला वृत्ति जो वालोतरा में 1634 ई. चित्रित (राष्ट्रीय संहालय, दिल्ली) दोनों संभवतः वीर जी नामक चित्रकार द्वारा चित्रित की गई हैं। दोनों में आकृतियाँ और रंगों का संयोजन समान है। इसी श्रेणी में ढोला मारु (बड़ोदा संग्रहालय) भी रख सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजराती चित्र शैली की कुछ विशेषताओं के साथ-साथ मुगल प्रभाव अधिक है। आकृतियाँ अपरिष्कृत हैं। उस समय दो शैलियां मुख्य रूप से प्रचलित थी। एक स्थानीय शैली जिसमें लोक में प्रचलित ढंग से चित्रण किया गया था। इसमें कई कथा ग्रन्थ रागमाला आदि थे। दूसरे ढंग चित्र में मुगल प्रभाव अत्यधिक था। इनमें राजाओं के वृत्त चित्र मुख्य रूप से थे। महाराजा उदयसिंह सूरसिंह, गजसिंह के इस प्रकार के कई वृत्त चित्र (बड़ौदा संग्रहालय एवं कई निजी संग्रहालय) बहुत प्रसिद्ध हैं। उस समय तक मारवाड़ की अपनी विशिष्ट शैली प्रसिद्ध नहीं थी। राज्य में प्रभाव बढ़ता जा रहा था। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (वालोत्तरा में चित्रित 1643 ई.) मेघदूत (आसनीकोट में 1669 ई. में चित्रित) आदि क्षिथियुक्त ग्रंथ हैं, जिन पर मुगल प्रभाव स्पष्टतः दिखाई दे रहा है। इसी प्रकार से महाराजा जसवन्त सिंह के रेखाचित्र (1645 ई. के लगभग) (विक्टोरिया अलवर्ट म्यूजियम, लंदन) में भी ये विशेषण विद्यमान हैं।

महाराजा जसवंत सिंह की मृत्यु के बाद मारवाड़ में बड़ा उथल-पुथल हुआ और कई वर्षों तक वहाँ युद्ध की स्थिति बनी रही। अजीत सिंह के पुनः सत्ता संभालने के बाद स्थिति में परिवर्तन हुआ। वि. सं. 1776 माघ सुदी 6 ( फरवरी, 1716 ई. ) का एक सुन्दर चित्र कायलाणा ( जोधपुर ) में महाराजा अजीत सिंह के शिकार का मिला है ( कुं. संग्राम सिंह संग्रह )। इस चित्र का संयोजन मुगल प्रभाव को स्पष्टतः अंकित करता है। एक ही चित्र में कई शिकार के दृश्य अंकित हैं। राजा हाथी पर बैठकर शेर के शिकार में व्यस्त हैं। उनके अन्य साथी सूअर, हिरण आदि के शिकार करते हुए दिखाये गये हैं। अजीत सिंह की 1724 ई. में हत्या कर दी गई। इसके बाद इनका पुत्र अभय सिंह शासक बना। डालचन्द चित्रकार इनके राज्य में नियुक्त था। कुंवर संग्राम सिंह के संग्रह में इस चित्रकार द्वारा बनाये हुये चित्र मौजूद हैं। अभय सिंह के बाद राम सिंह गद्दी पर बैठा। ऊँची लम्बी पगड़ी के पहनावे का प्रचलन इसके समय में प्रचलित हुआ। अभय सिंह का छोटा भाई बख्त सिंह नागौर का शासक था। वह चित्रकला का अत्यन्त प्रेमी था। उसने भीति चित्रों से अपने किले को सजाया ही नहीं अपितु नागौर में कई मुगल चित्रकारों को रखकर कई सुन्दर चित्र बनाये। एक निजी संग्रह में मैंने नागौर में 1750 ई. के लगभग बने कई सुन्दर स्त्री चित्र देखे हैं। इनमें स्पष्टतः मुगल प्रभाव परिलक्षित होता है। बख्त सिंह के बाद विजय सिंह मारवाड़ का शासक हुआ। इसके राज्य में मारवाड़ की अपनी विशिष्ठ शैली पल्लवित हुई जिसकी मुख्य विशेषतायें ये थीं :—

(1) गोल मुंह तिरछी आंख, खुला भाल युक्त नारी चेहरे। पौरुष युक्त गोल मुंह वाले पुरुष चेहरे।

(2) पुरुष चेहरों में कई मारवाड़ी परिधान पहिने और कई समकालीन मुगल जामे आदि पहने।

(3) स्त्री पोषाक विशेष रूप से वर्णनीय है। लहंगे के नीचे के भाग काफी चौड़े और फैले हुये। पुरुष पोशाक में सफेद जामों की आधिक्यता, रंग बिरंगी पगड़ियाँ और काली ढालें चित्र की शोभा बढ़ाते हैं।

(4) मान सिंह के समय से पृष्ठ भूमि में कई बहूमूल्य सजावट का प्राधान्य।

(5) धर्म ग्रन्थों और बड़े-बड़े चित्रपट्टों पर कथा ग्रन्थों के अंकन का प्राधान्य।

महाराजा विजय सिंह के समय से ग्रन्थों के चित्रण पर जोर दिया जाने लगा। श्रीमद्भागवत ( 71 चित्र ), ढोलामारु ( 121 चित्र ), पंचतंत्र ( 472 चित्र ), सूरज प्रकाश ( अपूर्ण ) आदि का चित्रण संभवतः विजय सिंह के समय हुआ था। उसके समय में अब्दुला का पुत्र फैजअली एवं उदयराम के द्वारा बनाये गये विजय सिंह के दरबार के कुछ दृश्य सिटी पैलेस, जोधपुर में उपलब्ध हैं। 1780 ई. तक मुगल प्रभाव समाप्त हो गया। विजय सिंह के बाद भीम सिंह शासक बना। बासनी में जन्मोत्सव ( 1797 ई. ), महाराजा का वृत्त चित्र ( रहीम द्वारा चित्रित ) ( सिटी पैलेस जोधपुर के संग्रह में ) उसके समकालीन चित्र हैं। महाराजा मानसिंह के समय चित्रकला की अभूतपूर्व उन्नति हुई, हजारों वृत्त चित्र बने। कई ग्रंथों को चित्रित एवं कथाओं से सम्बन्धित चित्र पट्ट बनाये गये। इनमें रामायण ( 91 चित्र ) रासलीला ( 9 चित्र ) गजेन्द्र मोक्ष ( 4 चित्र ) शिवपुराण ( 109 चित्र ) शिव रहस्य ( 101 चित्र ) ( 1827 से 1825 ई. के मध्य ) नाथ चरित्र ( 99 चित्र ), सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ( 25 चित्र ) आदि उल्लेखनीय हैं। भागवत दशम स्कन्ध ( 1820 ई. ) और विष्णु सहस्रनाम ( 1833 ई. ) अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गुरुदेवनाथ के आशीर्वाद से मानसिंह ने राज्य प्राप्त किया था। अतएव मानसिंह और गुरू देवनाथ से सम्बन्धित कई चित्र बने हैं। इन्हे चित्रकार दाना भाटी (1825 एवं 1835) बुलाखी ( 1837 ई. ) शिवदास (1828 ई.) अली ( 1836 ई. ) लादूनाथ ( 1825 ई. ) सरताज सतिदास आदि ने बनाये थे। एक चित्र में देवनाथ को ब्रह्मा और विष्णु के साथ भी चित्रित किया गया। ( सिटी पैलेस, जोधपुर 1836 ई. ) कुंवर संग्राम सिंह नवलगढ़ के संग्रह में भी इस काल के कई अच्छे चित्र हैं। इनमें से दरबार ( 1829 ई. ) एवं दशहरा दरबार ( 1820 ई. ) के दृश्य, शिकार का दृश्य ( 1825 ), महाराज कुमार छत्रसिंह का धनुष बाण चलाना ( 1810 ई. ) आदि उल्लेखनीय हैं। शिकार और सवारी के कुछ सुन्दर चित्र जोधपुर सिटी पैलेस में भी संग्रहित हैं। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं। (1) गुलाब सागर की ओर महाराजा की सवारी का दृश्य जिसमें निमाज, पोकरण और आसोप के जागीरदार भी हैं। (2) महाराजा की सवारी का चित्र जिसमें उनके साथ कुचामन भाद्राजूण भैंसवाड़ा के जागीरदार सिंघी इन्द्रनाथ आदि को दिखाया है। (3) महाराजा होली खेलते हुए ( शिवदास द्वारा ) (4) शिकार का दृश्य ( 1827 ई. ) इनमें मुख्य रूप से सफेद रंग का अधिक प्रयोग है। सफेद

पोशाक के साथ काले रंग की ढाल और रंग रंगीले साफे और पगड़ियाँ होने से चित्रों में दृश्य पटल महत्वपूर्ण एवं आकर्षक हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त पृष्ठभूमि में अधिक वैभवशाली वातावरण को अंकित करना भी एक परम्परा सी बन गई थी। सजे सजाये महल, सुन्दर पेड़ों से सज्जित बाग आदि का अंकन उल्लेखनीय है।

राजमहलों के अतिरिक्त सामान्य लोगों को भी चित्रकला से अभिरुचि थी। उस काल में चित्रित दो विज्ञप्ति पत्र वि. सं. 1892 ( 1835 ई. ) एवं वि. सं. 1882 ( 1825 ई. ) के जोधपुर में चित्रित किये गये थे। इन्हें समकालीन चित्र शैली के अनुरुप ही चित्रित किया गया है।

मान सिंह की मृत्यु के बाद तख्त सिंह राजगद्दी पर बैठा। मान सिंह के समय के चित्रकार उस काल में निरन्तर कार्य करते रहे। उस काल में वर्ण्य विषयों में अपेक्षाकृत कमी आ गई। चित्रकारों ने अधिकांशतः स्त्री चरित्रों का चित्रण किया है। 1818 ई. की संधि के बाद राजाओं को ब्रिटिश सरकार का संरक्षण प्राप्त हो गया। मारवाड़ में मानसिंह के बाद तख्त सिंह की अंग्रेजों से अच्छी मित्रता रही। उस काल में बने चित्रों में विलासिता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। महाराजा का उद्यान में मनोविनोद ( शिव दास भाटी द्वारा ) महाराजा झूला झूलते हुये की कई प्रतियां बनी [शिव दास अली एवं शंकर द्वारा]। महल की नारियों के साथ मद्द पीते हुये उस काल की अच्छी कृतियां हैं।

महाराजा तख्त सिंह के बाद जसवंत सिंह राजगद्दी पर बैठा। उस काल के चित्रों में महलों में भित्ति चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर प्रताप के संरक्षण में ब्रिटिश प्रभाव अधिकाधिक बढ़ा और 1900 से पश्चिमी चित्र शैली का प्रभाव दिखाई देने लगा।

मारवाड़ की कई लघु चित्र शैलियां भी मिलती हैं। इनमें जैसलमेर, नागौर, घाणेराव आदि विशेष रुप से उल्लेखनीय है।

### किशनगढ़ चित्र शैली—

किशनगढ़ राज्य की स्थापना महाराजा किशन सिंह ने की थी। यह जोधपुर के महाराजा मोटे राजा उदय सिंह का पुत्र था। किशनगढ़ राज्य का एक महत्वपूर्ण नगर रूप नगर था। जिसे प्राचीन अवशेषों पर महाराजा रूप सिंह ने बसाया था। इस राज्य के शासक प्रारम्भ से ही वैष्णव थे एवं भगवान कृष्ण की पुष्टि मार्गीय सेवा करते थे। मानसिंह (1658-1700 ई.) एक महत्त्वपूर्ण शासक था। मुगल दरबार में निरन्तर रहने के कारण वहां के चित्रकारों एवं

कलाकारों से उनका सम्पर्क बना रहता था। मानसिंह [1]को चित्रकला से प्रेम था। वह स्वयं भी चित्रकार था। उसके शिकार से सम्बन्धित चित्र जो 1694 ई. में चित्रित किया गया था, उस काल की अच्छी कृति है। किशनगढ़ की विशिष्ट शैली का उस समय तक विकास नहीं हुआ था।

मानसिंह[2] का उत्तराधिकारी राजसिंह ( 1706-1748 ई. ) था। यह भी कला प्रेमी था। कई चित्रकार उसके आश्रित थे। भवानी दास और उसका पुत्र डालचन्द्र एवम् कल्याण दास 1720-1730 ई. तक कार्य करते रहे। इनके चित्रों पर मुगल प्रभाव स्पष्ट है। स्वर्ण का अत्यधिक प्रयोग है। भवानी दास 90) रुपया प्रति माह पर राज्य सेवा में था। सूरध्वज निहाल चन्द का परिवार भी इसी समय किशनगढ़ में आ बसा। राजकुमार सामंत सिंह कला प्रेमी था। 1720 ई. में एक पागल हाथी को वश में करके राजकुमार ने ख्याति प्राप्त की थी। इसी यशोगाथा को एक समकालीन चित्रकारने चित्रित किया है। यह संभवतः मुगल सम्राट मोहम्मद शाह के दरबार में भी रहा था। अतएव समकालीन चित्रकला की गतिविधियों से वह परिचित था। 1740 ई. के लग-भग राजकुमार सामंत सिंह जो आगे चलकर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध था, का बणी ठणी नामक एक स्त्री से प्रेम हो गया। दोनों का प्रेम दिनों दिन बढ़ता गया। निहाल चन्द्र ने राधाकृष्ण के रूप में दोनों की आकृतियों के प्रतिमान को बनाने में अत्यन्त कुशलता का प्रदर्शन किया है। इस प्रकार से 1740 ई. के आसपास किशनगढ़ शैली की निम्नांकित विशेषतायें बन चुकी थीं :—

(1) पुरुष और नारी आकृतियाँ अपेक्षाकृत लम्बी एवं पतली, इनमें कंठ का भाग निकला हुआ स्पष्टतः दिखाई देता है।

(2) बणी-ठणी की आकृति वाले स्त्री चेहरे एक प्रतिमान के रूप में प्रसिद्ध हुए। बादाम की शक्ल की आंख जिसका एक भाग अत्यन्त नुकीला, भौंहे

---

1. ऐरिक डिकन्सन ने साहित्यिक स्रोतों के आधार पर मानसिंह के राज्याश्रित कई चित्रकारों के होने का उल्लेख किया है। एड्रिस बनर्जी ने कई चित्रों को 17 वीं शताब्दी के मध्य का माना है ( रूपलेखा 25 सं. 2 1954 ) किन्तु खांडालवाला ने इसे स्वीकार नहीं किया है। ललितकला सं. 6 पृष्ठ 86।
2. एम. एस. रंधावा एवं डी. एस. रंधावा—किशनगढ़ पैंटिंग ( बम्बई ) पृष्ठ 8-9।

ऊपर उठी हुई, बाल गहरे काले जिनकी कुछ लटें चेहरें पर आती हुई, नाक एवं ठोढ़ी नुकीली है। मोहकता एवं मादकता को प्रदर्शित करता हुआ चेहरा।

(3) पृष्ठभूमि में हरे रंग का आधिक्य। दृश्यों का संयोजन एक विशिष्ठ शैली के अनुरूप किया गया है। महल, बाग, झील आदि को मुख्य रूप से पृष्ठभूमि में प्रदर्शित किया गया है। पृष्ठभूमि में हरे रंग का आधिक्य एवं मुख्य दृश्य में विभिन्न रंगों के वस्त्रों से सजी नारियां एवं पुरुष चित्र को अत्यन्त मोहक बना देते हैं।

(4) चित्रों की विषय-वस्तु मुख्य रूप से कृष्ण लीला से सम्बन्धित है। यो शाहनामा[3] भी चित्रित किया गया है किन्तु जो कला कौशल कृष्ण भक्ति के चित्रों में प्रदर्शित किया है वह विशिष्ट है।

1745 ई. की दो कृतियां प्रकाश में आई हैं। इनमें संग्रहिणी सूत्र [4](कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में) एवं राज कुमार सामंत सिंह का वृत्तचित्र। संग्रहिणी सूत्र की एक कृत्ति आरम्भिक किशनगढ़ शैली की है। इसमें सारी नारी आकृतियां एक सी नहीं हैं। कुछ वणी ठणी सी हैं। यह कृति राजकीय सरक्षण में नहीं वनकर निजी जैन परिवार द्वारा बनाई गई है। अतएव चित्रकला के सारे आदर्श नहीं आ सके हैं। दूसरी कृति राजकुमार सामंत सिंह का एक चित्र (अमेरिका के एक निजी [5]संग्रहालय में) है। इसमें किशनगढ़ शैलीगत सारी विशेषतायें विद्यमान हैं। 1750 से 1760 तक की कई कृतियाँ प्रकाश में आई हैं। इनमें से कोई भी तिथि युक्त नहीं है किन्तु शैलीगत विशेषताओं के अनुसार ही इनका काल निर्धारण किया गया है। इनमें से कृष्ण द्वारा गोवर्धन धारण (भारत कला भवन) कृष्ण द्वारा राधा को फूल पेश करना (राष्ट्रीय संग्रहालय) कृष्ण द्वारा झील में फूलों का संग्रह (किशनगढ़ राजमहल) बाग में राधाकृष्ण (एडवर्न बिनी तृतीय के संग्रह में), राधाकृष्ण का नौका विहार (राष्ट्रीय संग्रहालय) आदि इस काल की सुन्दर कृतियाँ हैं। इनमें प्रकृति के सौन्दर्य के साथ मानव सौन्दर्य का अंकन अत्यन्त मोहक है। विषयों की विविधता के साथ-साथ पृष्ठभूमि, रंग योजना, संयोजन आदि उल्लेखनीय हैं।

---

3. कार्ल. जे. खंडालावाल—किशनगढ़ पेन्टिग्ज-पोर्टकालिओ पृष्ठ १।
4. लेखक द्वारा कलावृत्त (जयपुर) में प्रकाशित।
5. स्टुअर्ट केरीवेल्स-ए फ्लावर ट्र एवरी मिडो (न्यूयार्क 1973) पृष्ठ 56 एम. एस. रंघावा आदि पूर्वोद्धृत प्लेट सं. 1।

सामंत सिंह 1757 में राज्य छोड़कर वृन्दावन चला गया एवं उसका पुत्र सरदार सिंह उत्तराधिकारी हुआ। इसके समय में भी चित्रण का कार्य[6] बराबर जारी रहा। एक दरबार के दृश्य में महाराजा के साथ-साथ अन्य सामंत-चित्रकार निहालचन्द एवं अमरचन्द के भी चित्र बने हुये हैं। इससे प्रतीत होता है कि इन्हें राजकीय सम्मान प्राप्त था। भागवत ( भारत कला भवन ) 1760 ई. में चित्रित किया गया था। 1765 से 1770 के मध्य बने चित्र निहालचन्द की शैली की परिपक्वता को प्रदर्शित करते हैं। निहालचन्द ने शाहनामा को भी चित्रित किया था किन्तु जो शैलीगत विशेषता कृष्ण भक्ति काव्य में है, वह इसमें नहीं आ पाई है। वह 1773 ई. तक निश्चित रूप से राज्य सेवा में विद्यमान था। उस वर्ष उसे चित्र बनाने के लिये कुछ सामग्री देना वर्णित है।

अमरू और सूरज नामक चित्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने 18 वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में कई महत्वपूर्ण चित्र बनाये हैं। निहालचन्द के वंशज सीताराम एवं सूरजमल भी उस समय कार्यरत थे। महाराजा विड़दसिंह ( 1782-1798 ) के समय में रामनाथ एवं सवाई राम नामक चित्रकारों के उल्लेख मिलते हैं। महाराजा कल्याण सिंह ( 1798-1838 ई. ) के समय में गीत गोविन्द ( महाराजा किशनगढ़ के संग्रह में ) 1820 ई. में लाडली दास ने चित्रित किया था। रामायण की प्रति ( कुंवर संग्राम सिंह, एडवर्ड बिनी तृतीय आदि के संग्रह ) 1840 ई. के लगभग चित्रित की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि 1820 ई. के वाद पुरुष आकृतियाँ लम्बी और पतली के स्थान पर पौरुष युक्त, बड़ी मूंछों वाली बनाई गई हैं। कुंवर संग्राम सिंह के संग्रह में रामायण से सम्बन्धित एक पट्ट है जिसमें इस प्रकार के चित्रण उपलब्ध हैं। 1817 ई. में चित्रित एक विज्ञप्ति पत्र ( देहलाणा उपाश्रय अहमदाबाद ) में किशनगढ़ शैली का सुन्दर अंकन हुआ है। यह विज्ञप्ति पत्र किशनगढ़[7] से पं. रूप विजयजी के पास अहमदाबाद भेजा गया था। इसमें प्रकृति प्रेम, रंगों का संयोजन आदि किशनगढ़ की शैलीगत विशेषतायें हैं किन्तु पुरुष आकृतियों में परिवर्तन दिखाई देता है।

इस चित्र शैली को प्रकाश में लाने का श्रेय ऐरिक डिकन्सन को है किन्तु उनके कार्य के प्रकाशन के पूर्व ही उनकी मृत्यु हो गई। कार्ल जे.

6. ललित कला सं. 6 पृष्ठ 86।
7. यू. पी. शाह-ए ट्रेजर्स फ्रोम जैन भंडार्स प्लेट सं. 153-54।

खंडालावाला ने अत्यन्त विद्वतापूर्ण रीति से इस कार्य को सम्पादित करके प्रकाशित किया है।

## कोटा चित्र शैली

कोटा राज्य की स्थापना हाडा माधोसिंह ने की थी। इसके बाद मुकुन्द सिंह ( 1630-1657 ) शासक हुआ। इसने हरे भरे दर्रा के पर्वत क्षेत्र में महल बनाये। वह धर्मत के युद्ध में काम आया। इसके उत्तराधिकारी जगत सिंह ( 1657-70 ) किशोर सिंह ( 1670-1686 ई. ) एवं रामसिंह (1687-1707 ई. ) मुगल बादशाहों की सेवा में रहे। कोटा में 17वीं शताब्दी में चित्रकला की अलग से कोई शैली नहीं थी और बूँदी की प्रतिलिपि के रूप में ही यदा कदा चित्रकला का कार्य होता रहा। संभवतः रामसिंह प्रथम के समय कुछ चित्र बने। इनमें दर्रा शिकार का दृश्य ( 1700 ई. के लगभग ) चित्र में कई उल्लेखनीय बातें हैं। पृष्ठभूमि में सघन वनस्पति का चित्रण, डरे हुये हिरणों का चित्र एवं अन्य विविध चित्रण से पता चलता है कि कोटा शैली बूँदी से परिवर्तित होकर एक नया रूप ले रही है। रुक्मिणी हरण ( म्यूनिसिपल म्युजियम, इलाहाबाद तिथि 1700 ई. के लगभग ) में पुरुष चेहरे, पगड़ियाँ आदि कोटा के शासकों के अनुरूप है। बूँदी के शासक बुध सिंह के राज्य में अस्थिरता के कारण कई चित्रकार उणियारा एवं कोटा चले गये थे। स्टुअर्ट केरी वेल्स के अनुसार हाथियों के युद्ध का एक रेखांकन भी महाराजा रामसिंह प्रथम से संबंधित रहा होगा जिसमें हाथियों का सुन्दर अंकन है। उसका यह भी लिखना है कि कोटा के चित्रकारों के समान हाथियों का इतना सुन्दर अंकन अन्य राजपूत शैलियों में नही मिलता है।

रामसिंह की मृत्यु जाजुआ के युद्ध में 1707 ई. में होने के बाद भीमसिंह ( 1707-1720 ई. ) शासक बना। यह बहादुर शाह का विश्वस्त शासक था एवं इसे 5000 जात और 5000 सवारों का मनसब प्राप्त था। यह वैष्णव धर्म का अनुयायी था। इसकी मुगल सम्राट ने बूँदी बारां, मऊ मैदान, गागरौण आदि के अतिरिक्त क्षेत्र भी दिये किन्तु वह बूँदी नहीं जीत सका। इसने 1716 ई. में बृजनाथ का मंदिर कोटा के महलों में बनाया। संभवतः रसिक प्रिया ( राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली ) इसके आदेश से बूँदी के चित्रकारों ने बनाया हो। कोटा एवं झालावाड़ के राजकीय संग्रहालय एवं देवता श्रीधर के संग्रह में कई चित्र हैं जिनमें इसे श्रीनाथ जी एवं मथुराधीश जी की सेवा करते हुये दिखाया गया है।

भीमसिंह की मृत्यु के उपरान्त इसका पुत्र अर्जुन सिंह ( 1720-1733 ई. ) उत्तराधिकारी हुआ। वारामासा ( म्युनिसिपल म्यूजियम इलाहाबाद 1725 ई. के लगभग ) संभवतः इसके राज्य में बना था। इसमें पुरुष आकृतियाँ कोटा शैली के अनुरूप हैं, अन्य चित्रण में बूँदी का प्रभाव स्पष्ट है। शुल्क अभिसारिका नायिका का चित्र ( वाल्टर स्पिन्क के संग्रह में, न्यूयार्क, तिथि 1730 के लगभग ) कोटा शैली के विकास को परिलक्षित करता है। इसमें फूले हुये गाल, बड़ी आँखें, खुला हुआ भाल आदि कोटा शैली के अनुरूप है। अर्जुन सिंह के बाद उसका उत्तराधिकारी दुर्जन शाल हुआ। इसको चित्रकला से बड़ा प्रेम था। इसके समय बने चित्रों में विषय वस्तु के विस्तृत अंकन मिलते हैं। गागरांग दुर्ग का रेखाचित्र ( लगभग 1735 ई. ) ( जगदीश कमला मित्तल संग्रहालय, हैदराबाद ) के चित्र में दुर्ग एवं इसमें हाथियों की लड़ाई आदि का सुन्दर चित्रण है। चित्र राधाकृष्ण नृत्य देखते हुये ( संग्राम सिंह संग्रह तिथि 1740 ई. ) में कृष्ण को दुर्जन शाल के रूप में चित्रित किया है। देलवाड़ा रागमाला ( अब फाईन आर्ट म्युजियम बोस्टन, बिड़ला एकेडेमी कलकत्ता आदि ) इस काल की सुन्दर कृति है। हाथियों के कई चित्रण मिलते हैं। दुर्जन शाल के बाद अजीत सिंह ( 1756-59 ई. ) एवं छत्रशाल (1759-1766 ) शासक हुये। इसके शासन काल के कई सचित्र ग्रन्थ एवं वृत्तचित्र मिले हैं। भागवत ( स्टेट म्युजियम कोटा 1760 ई. ) ढोलामारु ( 1762 ई. प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर ) आदि ग्रंथ एवं छत्रसाल का अपने दरबारियों सहित चित्र ( 1764 ई. कुं. संग्राम सिंह संग्रह ) मिले हैं। इस प्रकार उस समय कोटा शैली की निश्चित निम्न विशेषतायें बन गई थीं—

1. स्त्री पात्रों के मुख गोल, आँखें बड़ी, खुला हुआ भाल।

2. पुरुष चेहरे प्रारंभ में दुबले मिलते हैं, दुर्जन साल के समय से पगड़ी की शैली में परिवर्तन होता है।

3. पृष्ठभूमि में सघन वनस्पति, चौकोर भवन, घुमड़ती बादलों की घटा आदि बने हुये हैं।

4. चित्रों में अधिकाधिक विस्तृत ब्योरा बनाना।

5. हाथियों के चित्रण में विशेष कुशलता।

6. गहरे चमकीले रंगों का प्रयोग।

छत्रसाल के बाद गुमान सिंह ( 1764-1770 ई. ) शासक बना। डालु नामक एक चित्रकार ने महाराणी राणावत जी के लिये एक सुन्दर रागमाला बनाई थी ( 1766-68 ई. ) इसमें चित्रकार ने कई नयी विधाएं जोड़ी हैं। इसमें कई प्रकार के दृश्य हैं। इस काल के अन्य चित्रकार लक्ष्मीनाथ, रूघनाथ, गोविन्दराम आदि थे।

1770 ई. के बाद कोटा चित्र शैली में महत्त्वपूर्ण मोड़ आता है। शिकार के दृश्यों के चित्रण पर अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा। महाराजा उम्मेद सिंह झाला जालिम सिंह के प्रभाव में था। झाला स्वयं चित्रकला का प्रेमी था। इसकी हवेली भी चित्रित की हुई थी। शिकार के कई तिथियुक्त चित्र मिले हैं ( 1771 ई., 1777, 1779, 1780 आदि विक्टोरिया अलबर्ट म्युजियम, लन्दन, कुं. संग्राम सिंह संग्रह जयपुर आदि )। उस काल में हेमराज जोशी, गुमानीराम आदि चित्रकारों ने बड़ी कुशलता से कार्य किया था।

उम्मेद सिंह के बाद किशोर सिंह ( 1821-29 ) शासक हुआ। झाला मदन सिंह के असहयोग के कारण उसे बड़ी कठिनाई भुगतनी पड़ी। उसके उत्तराधिकारी राम सिंह (1829-1867 ई.) और शत्रुशाल ( 1868-1891 ई. ) के समय कोटा चित्रकला ने नया मोड़ लिया। अब बड़े-बड़े चित्रपट बनाये गये जिनमें राजा के जीवन लीलाओं का महत्त्वपूर्ण चित्रण है और इनमें से अधिकांश तिथियुक्त भी हैं। ये चित्र सुन्दर एवं आकर्षक हैं। कृष्ण लीला सम्बन्धी नाथ द्वारा शैली के भी कई चित्र कोटा में बने हैं। उस समय के प्रमुख चित्रकार लच्छीराम, रघुनाथ, गोविन्दराम, नूर मोहम्मद आदि हैं। इनमें पुष्टि मार्गीय चित्रों को रघुनाथ और गोविन्द ने मुख्य रुप से बनाये हैं।

## ढूढाड ( आमेर एवं जयपुर )

आमेर राज्य की स्थापना 12 वीं शताब्दी के आसपास कछावा शासकों द्वारा की गई। किन्तु 15 वीं शताब्दी के बाद ही यहाँ के शासकों ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। कछावा पृथ्वीराज मेवाड़ के माहाराणा सांगा का सम-कालीन था। मृत्यु के बाद इसके उत्तराधिकारियों में संघर्ष हुआ एवं कालान्तर में भारमल ढूढाड़ का शासक बना। यह महत्वाकांक्षी शासक था। अकबर से निकटतम सम्बन्ध स्थापित करके इसने मुगल दरबार में बड़ा सम्मान प्राप्त किया। इसके उत्तराधिकारियों में भगवंतदास एवं मानसिंह बड़े प्रसिद्ध योद्धा थे। 16 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में आमेर कई सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। दिगम्बर जैन विद्वानों ने कई ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ

कराई एवं कई ग्रन्थ चित्रित भी कराये। इस प्रकार से 16 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और 17 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चित्रकला की निम्न विधाएं यहाँ प्रचलित थीं। (1) भीत्तिचित्र (2) ग्रन्थ चित्रण (3) वृत्त चित्र बनाना।

मानचरित नामक ग्रन्थ ( रचना काल 1583 ई. ) के अनुसार मानसिंह के महलों में भीत्तिचित्र बने हुये थे। सफेद हो जाने से अधिकांश चित्र अब दिखाई नहीं पड़ते हैं। कुछ वर्षों पूर्व पुरातत्व विभाग ने सफेदी हटा के कई चित्र निकाले हैं। इनमें राधाकृष्ण के चित्र उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार से राजा मानसिंह की छत्री के चित्र सन 1620 के बने हुये हैं। ये चित्र सीधे पत्थर पर बने हुये हैं। इसमें कुल 40 पैनल हैं। जिनके ऊपर के भाग में त्रिकोणात्मक महराब का चित्रण है। इनमें भिन्न-भिन्न विषय वस्तु का वर्णन है। इसी प्रकार का चित्रण मकदुमशाह के मकबरे, बैराठ के मुगल गेट, भावपुरा, मौजमाबाद आदि में भी मिले हैं। इनमें मुगल प्रभाव स्पष्ट हैं।

निम्न तीन तिथियुक्त ग्रन्थ मिलते हैं :—

(1) यशोधर चरित ( 1591 ई. ) (2) यशोधर चरित ( 1592 ई. )
(3) आदिपुराण ( 1605 ई. )

इनमें से एक यशोधरचरिता (1591 ई.) की चोरी हो गई है। ये तीनों ग्रन्थ महाराजा मानसिंह के राज्य में चित्रित किये गये थे। इनकी एक विशिष्ट शैली है, जिन पर दिल्ली के आदि पुराण का प्रभाव स्पष्ट है। इनमें मानव आकृतियों की नाक नुकीली है और पगड़ियाँ भी छोटी-छोटी बनी हैं। गहरे लाल रंग का अधिक प्रयोग है जो आदि पुराण ग्रन्थ से प्रभावित हैं। दोनों यशोधर चरित आमेर में और आदि पुराण मौजमाबाद में चित्रित किये गये थे।

वैष्णव ग्रन्थों के चित्रण की परम्परा विद्यमान थी। 1598 ई. में चित्रकार नारद ने भगवत दशम स्कन्ध का चित्रण किया था, अब यह महाराजा जयपुर के निजी संग्रह में है। इसी चित्रकार ने सन् 1583 में मातर ( गुजरात ) में संग्रहिणी सूत्र एवं 1611 ई. में भगवत दशम स्कन्ध ( महाराजा जोधपुर के संग्रह में ) भी चित्रित किये थे। इस शैली से प्रभावित बाल गोपाल स्तुति ( कुं. संग्राम सिंह संग्रह ) एवं रसिक प्रिया ( सिटी पैलेस, जयपुर 1639 ई. ) ग्रन्थ भी मिले हैं। इनके चित्रों में चेहरों में नुकीलापन नहीं है। स्त्री पात्रों की आखें बड़ी-बड़ी और पोशाक समकालीन राजस्थानी है।

वृत्त चित्र अपेक्षाकृत कम बने हैं, इनमें से बादशाह बेगम का वृतचित्र

( कुं संग्राम सिंह संग्रह में ) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें चित्रकार ने राजपूत शैली के अनुरूप स्थापत्य वनाया है किन्तु वादशाह और वेगम की पोशाकें मुगल शैली के अनुरूप वनाई है। मिर्जा राजा जय सिंह के समय आमेर के शासकों का प्रभाव वापस वढ़ा। मुगल शासक भी उसका वड़ा सम्मान करते थे। उसके समय में भी चित्रकला की परम्परा जारी रही और आमेर महल में भोजन शाला के भीत्ति चित्र इसके शासनकाल में ही पूर्ण हुये थे। इनमें से कुछ चित्रों पर स्पष्ट रूप से मुगल प्रभाव है, जब कि कुछ स्थानीय शैली के अनुरूप हैं। पंचम रागिनी का चित्र ( कुं. संग्राम सिंह संग्रह 1650 ई. के लगभग ) आरम्भिक आमेर चित्र शैली का एक सुन्दर नमूना है। इसमें आकृतियों के लिए अधिक जगह घेरी हुई हैं, आखें मोटी मौर मुख चौड़े हैं।

मिर्जा राजा जय सिंह की मृत्यु 1667 ई. में हुई। इसके उत्तराधिकारी राम सिंह और विशन सिंह अधिक शक्ति सम्पन्न नहीं थे। उद्धव संदेश कुं. विशन सिंह की जन्मपत्री आदि ( सिटी पैलेस, जयपुर ) राम सिंह के समय वने हैं। उस समय चित्रकार नूरा था। इसने "रस प्रदिपिका" भी चित्रित की थी। सन् 1680 ई. के आसपास चित्रित भक्तामर स्तोत्र की एक प्रति व्यावर के एक जैन भंडार में संग्रहीत है। इसमें कीमती रंगों का प्रयोग किया गया है। स्त्री आकृतियां पतली और लम्बी वनी हुई हैं।

17 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सम्भवतः महाराजा विशन सिंह के राज्य में कई रागमाला बनाई गई थीं। इनमें पृष्ठभूमि में महल के दृश्य दिये गये हैं जिसमें फूल वेल बूटे आदि बने हुये हैं। सवाई जय सिंह अपने समय के एक महत्त्वपूर्ण शासक थे। 1709 ई. में चित्रित राग माला ( कांकरोली गोस्वामी जी के संग्रह में ) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आमेर से प्राप्त तिथि युक्त यह पहली रागमाला है। इसमें मानव आकृतियाँ लम्बी हैं और समानुपातिक हैं। चहरे पंचमराग ( 1950 ई. के लगभग कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में ) से ही विकसित प्रतीत होते हैं किन्तु कलात्मक तरीके से इन्हें उभारा गया है। पृष्ठभूमि में स्थापत्य का आधिक्य है, इनकी दीवारों पर पेड़ पौधों और सुराही आदि के चित्रण भी दिखाई देते हैं।

दिगम्बर जैन मन्दिर आमेर में 1700 ई. के आस पास कई सुन्दर चित्र बनाये गये थे। 1701 ई. में एक शिलालेख के अनुसार दौसा के बीस पंथी मन्दिर में भीत्ति चित्र वनाये गये थे। यशोधर चरित्र की एक प्रति 1712 ई.

में सांगानेर में चित्रित की गई थी जो अब सवाई माधोपुर के जैन मन्दिर में संग्रहीत है। सवाई जय सिंह के शासन काल में मोहम्मदशाह नामक एक चित्रकार ने भगवान कृष्ण सम्बन्धी कई चित्र भी बनाये थे जो अब विभिन्न संग्रहों में हैं।

सवाई जय सिंह के बाद ईश्वर सिंह 1743 ई. में शासक बना। सम्भवतः साहिब राम लालचंद आदि चित्रकार इसके दरबार में विद्यमान थे। लालचन्द ने चौगान में हाथियों की लड़ाइयों के सम्बन्ध में कई चित्र बनाये थे। गगवाना के युद्ध का दृश्य ( 1750 ई. के लगभग कुं. संग्राम सिंह के संग्रह में ) उसके शासन काल में चित्रित किया हुआ प्रतीत होता है। इसमें युद्ध के विभिन्न पक्षों का अच्छा चित्रण किया गया है। ईश्वर सिंह के बाद उसका छोटा भाई माधोसिंह गद्दी पर बैठा। यह महाराणा अमर सिंह द्वितीय की पुत्री चन्द्रकुमारी का पुत्र था। उसके समय में चित्रकला का अच्छा विकास हुआ। तोजी भाईयों के अनुसार कई राग मालाएँ और वृत्त चित्र बनाये गये थे। उस समय जयपुर भी विशिष्ठ शैली बन गई थी, जिसकी ये विशेषताएँ थी।

1. पुरुष और स्त्री आकृतियाँ लम्बी और समानुपातिक थी, नारियों के मुख गोलाई लिये हुये बनाये गये थे।

2. राग मालाओं, बारामासाओं में पृष्ठ भूमि में वास्तु शिल्प का प्राधान्य होना। इनमें राजमहल के भाग, जिसमें फूल पौधों आदि के चित्रण हैं, मुख्य रूप से बनाये गये हैं।

3. स्त्रियों के वस्त्रों में नीचे के भाग में चौड़े पट्टे बने हुये होते हैं। इनका प्रचलन सामान्यतः 1750 ई. के बाद ही दिखलाई देता है।

4. आभूषण और मालाओं के अंकन की जयपुर की अपनी विशेषता थी। कई बार लकड़ी के छोटे टुकड़ों को इस प्रकार से सजाया गया है जो सचमुच आभूषण से लगते हैं।

माधोसिंह के बाद सवाई पृथ्वी सिंह ( 1767-68 ) ई. शासक हुआ। कलाकार हीरानन्द और त्रिलोक ने इस राजा का आदम चित्र 1778 ई. में बनाया। इसकी मृत्यु के बाद इसके छोटे भाई सवाई सिंह प्रताप सिंह ( 1779-1803 ई. ) उत्तराधिकारी हुआ। वह साहित्य और कला का बड़ा प्रेमी था। उसके समय में रागमाला, भागवत, दुर्गापाठ, रामायण आदि कई ग्रंथ

चित्रित हुये। जयपुर में चित्रित भागवत की एक प्रति के लिए मराठाओं की बड़ी मांग थी। महादजी सिंधिया को बरावर पेशवा ने कई पत्र दिये और सवाई प्रतापसिंह को इसे देने के लिए वाध्य किया। उस समय जयपुर में कई अच्छे चित्रकार थे। इनके नाम हैं रामसेवक, गोपाल, उदय, हुक्मा, लक्ष्मण, सालिगराम, घासी, जीवन, राधा किसना, चिमना, राजू, घासी पुत्र सीताराम आदि। साहिब राम द्वारा कई चित्र बनाये गये थे। 1793 ई. में महाराजा का आदमकद चित्र इनमें विशेष रूप में उल्लेखनीय है। रासलीला का दृश्य (सीटी पैलेस, जयपुर) भी इसी काल में चित्रित किया हुआ है। इसमें रासलीला का दृश्य वड़ी सुन्दरता से दिखाया गया है। काले, लाल आदि रंगों के पयोगके लिए यह प्रसिद्ध है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ संधि होने के वाद चित्रकला में भी कई परिवर्तन आये। फोटो ग्राफी का प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होने लगा। जयपुर के कई चित्रकार बंगाल में गये, इसमें राम प्रसाद मुसव्वर का नाम वड़ा प्रसिद्ध है। महाराजा रामसिंह के समय में भी कई चित्रकारों ने वड़ी कुशलता से कार्य किया था।

इन उपरोक्त कला शैलियों के अतिरिक्त अलवर, सिरोही और अजमेर में में भी स्थानीय चित्र शैलियां थी। अलवर शैली पर मुगल और जयपुर शैली का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। सिरोही शैली की कृतियां देसूरी (जिला पाली) सिरोही और उत्तरी गुजरात के कई नगरो से मिली है। इनमें मुख्य रूप से लोक कला से प्रभावित आकृतियां और रंग योजना मिलती है। अजमेर के राठौड़ ठिकानों एवं सावर ठिकाने से भी कई चित्र मिले हैं।

## उपशैलियां

मेवाड़, वून्दी, कोटा और मारवाड़ की कई उपशैलियां भी प्रचलित थीं। मेवाड़ की उपशैलियों में देवगढ एवं नाथ द्वारा प्रमुख थी। देवगढ में वगता और चोखा अच्छे चित्रकार थे। इस उपशैली पर मारवाड़ एवं मेवाड़ की कला शैलियों का प्रभाव स्पष्ट था। रंग योजना मेवाड़ से भिन्न थी। नाथ द्वारा में श्रीनाथ जी के चित्र और पर्दे मुख्य रूप से वनाये गये हैं। वूँदी की एक उपशैली आंतरदा है। उणियारा में प्रारम्भ में वूँदी शैली का प्रभाव है। 1800 ई. के बाद जयपुर शैली का स्पष्ट प्रभाव उणियारा शैली पर देखा जा सकता है।

**वर्ण्य विषय**

राजस्थानी चित्र शैली में मुख्य रूप से निम्नांकित विषयों के चित्र अधिक बने हैं :—

1. भक्ति काव्य—कृष्ण लीला सम्बन्धी चित्र अत्यधिक बने हैं। इनमें भागवत, ( दशमस्कन्ध ), गीत गोविन्द, सूर सागर आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। रामायण की कुछ प्रतियां मेवाड़ और किशनगढ़ में चित्रित की गई हैं।

2. साहित्यक विषयों से सम्वन्धित चित्र—इनमें रागमाला, वारामासा आदि के चित्र लगभग सबही शैलियों में बने हैं। सबसे अधिक रागमालायें जयपुर में बनी है और सबसे कम बीकानेर में।

3. वृत्त चित्र—वृत्त चित्रों में राजाओं, रानियों, जागीरदारों आदि के चित्र खूब बने हैं। इन्हें विभिन्न मुद्राओं में वर्णित किया गया है। कई बार खड़े हुये, बैठे हुये घुड़सवार हाथी पर सवार आदि भावों में प्रदर्शित किया गये है।

4. शिकार सवारी और दरबार के दृश्य।

5. लोक कला सम्बन्धी चित्र।

# परिशिष्ट

## प्रथम लेख के कतिपय विशिष्ट सन्दर्भ-ग्रन्थ


1. अग्रवाल स्वर्णलता : राजस्थानी लोकगीत, राजस्थान साहित्य अकादमी ( संगम ), उदयपुर, 1967 ।
2. आसोपा रामकर्ण : मारवाड़ी व्याकरण, जयनारायण आसोपा, मंगल मार्ग, बापूनगर, जयपुर ।
3. भानावत महेन्द्र : लोकनाट्य : परम्परा और प्रवृत्तियां; बाफना प्रकाशन, जयपुर, 1971 ।
4. भाटी नारायण सिंह : डिंगल गीत साहित्य, चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, 1971 ।
5. चारण चन्द्रदान : अलखिया सम्प्रदाय, भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर, 1964 ।
6. चटर्जी डॉ. सुनीति कुमार : राजस्थानी भाषा, साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, 1949 ।
7. गोयल डॉ. रामगोपाल : राजस्थान के प्रेमाख्यान, परम्परा और प्रगति, राजस्थान प्रकाशन, त्रिपोलिया बजार, जयपुर, 1969 ।
8. लालस सीताराम : (i) राजस्थानी शब्द कोष, जिल्द 1, राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर, वि. सं. 2018 ।
   (ii) राजस्थानी व्याकरण, 1954,
   लेखक : 24/A शास्त्री नगर, जोधपुर
9. माहेश्वरी डॉ. हीरालाल : (i) राजस्थानी भाषा और साहित्य, आधुनिक पुस्तक भवन, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-7, सन् 1950
   (ii) जम्भोजी, विष्णोई संप्रदाय और साहित्य (2 भाग), बी. आर. पब्लिकेशन्स, 6 प्रिटोरिया स्ट्रीट, कलकत्ता, 1970 ।
   (iii) History of Rajasthani Literature, Sahitya Akadami, New Delhi, 1980.
10. मेनारिया डॉ. मोतीलाल : (i) राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संवत् 2008 ।
   (ii) राजस्थान का पिंगल साहित्य, हितैषी पुस्तक भण्डार, उदयपुर, सन् 1952 ।

11. नाहटा किरण : आधुनिक राजस्थानी साहित्य : प्रेरणा-स्त्रोत और प्रवृतियां ; चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, 1974 ।

12. शर्मा कृष्णकुमार : राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययनः राजस्थान प्रकाशन, चिपोलिया बजार, जयपुर ।

13. शर्मा डॉ. मनोहर : राजस्थानी बात साहित्य : एक अध्ययन : 'परंपरा' अंक 42-45, 1976 राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर ।

14. शर्मा डॉ. शिवस्वरूप 'अचल' : राजस्थानी गद्य साहित्य; सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर, 1961 ।

15. शेखावत सौभाग्य सिंह : (1) राजस्थानी निबंध संग्रह, हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर 1974 ।
(2) राजस्थानी साहित्य सम्पदा : राजस्थानी भाषा साहित्य संगम, बीकानेर, 1977 ।

16. सिंह डॉ. भगवती प्रसाद : रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : अवध साहित्य मन्दिर, बलरामपुर, संवत् 2008 ।

17. स्वामी बलरामदास : श्री रामस्नेही अनुभव आलोक, श्रीराम सत्संग मंडल, रैण, सन् 1965 ।

18. स्वामी मंगलदास : (i) दादू संप्रदाय का संक्षिप्त परिचय, दादू द्वारा, जयपुर ।
(ii) श्री महाराज हरिदासजी की वाणी दादू द्वारा, जयपुर ।

19. स्वामी नरोत्तमदास : (i) राजस्थानी साहित्य : एक परिचय; नवयुग ग्रंथ कुटीर, बीकानेर, सन् 1975 ।
(ii) संक्षिप्त राजस्थानी व्याकरण : सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर, 1960 ।

20. Tessitori L. P. : Notes on the Grammer of the Old Western Rajasthani with special reference to Apabhramsha aed Gujarati and Marwari, Eudian Auriquary, calcutts, April 1914 to July 1916.

21. त्रिपाठी डॉ. आर. पी. : रामस्नेही संप्रदाय, आनन्द, प्रकाशन फैजाबाद, 1973 ।

## द्वितीय लेख के सन्दर्भ ग्रन्थ

1. राजस्थान के लोक गीत
(पूर्वार्द्ध) 1. ठा० रामसिंह
2. श्री नरोत्तमदास स्वामी
3. सूर्यकरण पारीक
2. वही (उत्तरार्द्ध)
3. मारवाड़ के ग्राम गीत—श्री जगदीश सिंह गहलोत
4. राजस्थानी संगीत (पहला भाग)—श्री सागरमल गोपा
5. जैसलमेरीय 'संगीत रत्नाकर' (पहिला हिस्सा)—श्री रघुनाथ सिंह मेहता
6. जैसलमेर 'संगीत-सुधा' (प्रथम भाग)—श्री बलदेव प्रसाद प्रोहित
7. जैसलमेर के संगीत (प्रथम भाग)—श्री हीरालाल व्यास
8. बाजत आवे ढोल—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी
9. बेला फूले आधी रात—श्री देवेन्द्र सत्यार्थी
10. मालवी लोक गीत—डा० श्याम परमार
11. ब्रज लोक साहित्य—डा० सत्येन्द्र
12. राजस्थान के लोकानुरंजन—श्री देवीलाल सामरा
13 लोक कथा निबंधावली—श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया और
—श्री देवीलाल सामर
14. रोटी बनाम कथा—श्री दीनदयाल 'त्रिनेश'
15. राजस्थान स्वर लहरी भाग 1
16. बीकानेर के गीत संगीत— अगरचन्द लालाणी
17. नटो तो कहो मत—डा० कन्हैयालाल सहल
18. राजस्थान की लोक कथाएं भाग 1—श्री गोरवेन्द्र अग्रवाल
19. वही भाग 2
20. राजस्थानीवात साहित्य—डा. पूनम दइया
21. राजस्थानी कहावत भाग 1—नरोत्तमदास स्वामी, मुरलीधर व्यास
22. राजस्थानी कहावतां भाग 2 (वही)
23. घूमरें—श्री मोहनलाल पुरोहित
24. राजस्थानी व्रतकथाएं—मोहनलाल पुरोहित
25. राजस्थानी प्रेम कथाएं—श्री मोहनलाल पुरोहित
26. राजस्थान के लोक गीत—सौ. कलावती सारस्वत
27. पृथ्वीराज रासो के कथानक रुढ़ियाँ—श्री ब्रजविकास श्री वास्तव

28. हिन्दुओं के व्रत, पर्व और त्योहार—श्री कुंवर कन्हैयजू
29. हिन्दुओं के व्रत, पर्व, और त्योहार—श्री रामप्रताप त्रिपाठी, 'शास्त्री'
30. संस्कृति के चार अध्याय—श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'
31. 'घुड़ळा'—कुं सरदारमल थाम्वी
32 'भारतीय संस्कृति—श्री बाबू गुलाब राय
33. 'हिन्दी साहित्य कोष'—डा. धीरेन्द्र वर्मा
34. मुहावरा मीमांसा—डा. ओमप्रकाश गुप्त
35. मारवाड़ी गीत संग्रह दसों भाग—श्री भगवती प्रसाद दारूका
36. मारवाड़ी गीत संग्रह आठों भाग—श्रीमती विद्याधर देवी
37. Grimsn's yales.
38. राजस्थानी हरजल—डा. मनोहर शर्मा
39. चन्द्रसखी के लोक प्रचलित पदावली—डा. मनोहर शर्मा
40. चन्द्रसखी के लोक प्रचलित पदावली 'वरदा' ( वर्ष 12 अं. 1-2 )
—डा. मनोहर शर्मा
41. राजस्थानी बात साहित्य, एक अध्यन ( परम्परा भाग 82-83 )
—डा. मनोहर शर्मा
42. राजस्थानी मानक कथा कोश—श्री भागीरथ कानोडिया,
श्री गोविन्द अग्रवाल
43. निहालदे—डा. कन्हैयालाल सहल
44. निहालदे ( अंग्रेजी )—श्री लक्ष्मी निवास बिड़ला
45. राजस्थानी कहावतें, एक अध्ययन—डा. कन्हैयालाल सहल
46. राजस्थानी कहावतें—डा. कन्हैयालाल सहल
47. राजस्थानी लोक गीत—रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत
48. बगडावत—रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत
49. राजस्थानी लोक गाथाऐं—डा. कृष्णकुमार शर्मा
50. ढोला मारु रा दूहा—ठा. रामसिंहजी
—सूर्यकर्ण पारीक, नरोत्तमदासजी स्वामी
51. राजस्थानी लोक गीत एक अध्यन—डा. सर्वसता अग्रवाल
52. वर्ष विज्ञान अथवा राजस्थानी कृषि कहावतें—डा. जयशंकरजी शर्मा
53. डूँगजी जुवारजी'—सोभागसिंहजी शेखावत
54. पृथ्वीराज सुराना—डा. उदयवीर शर्मा
55. तेजाजी—डा. कन्हैयालाल शर्मा
56. 'Folk-yale of Mahakeswal—Dr. Vessivar
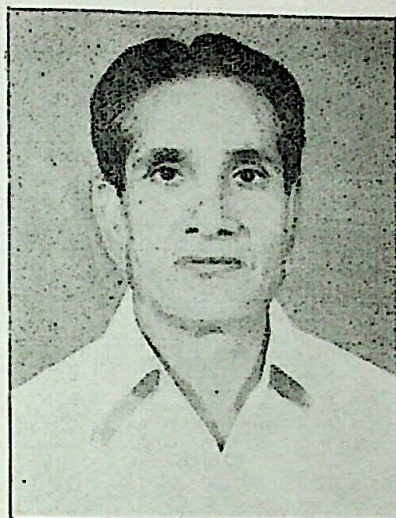
## डा० हीरालाल माहेश्वरी

जन्म—20 जनवरी 1931 को श्री गंगानगर ( राजस्थान ) में।

शिक्षा—एम. ए., एल. एल. बी., डी. फिल ( कलकत्ता विश्वविद्यालय ) डी. लिट्, ( राजस्थान विश्वविद्यालय )।

प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें—राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिस्ट्री ऑफ राजस्थानी लिटरेचर ( अंग्रेजी ), जांभोजी, विष्णोई संप्रदाय और साहित्य तथा अन्य कई पुस्तकें। इसके अतिरिक्त बहुत से शोध निबन्ध, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। कई संस्थाओं तथा राज्य सरकारों द्वारा पुरस्कृत। अभी 'राजस्थानी साहित्य का वृहत इतिहास' तथा 'राजस्थान का संत साहित्य' पर काम कर रहे हैं। डा० माहेश्वरी कई अकादमिक संस्थाओं के भी सम्मानित सदस्य हैं। संप्रति हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में एसोसियेट प्रोफेसर हैं।

वर्तमान पता—बी-174 ए, राजेन्द्र मार्ग, बापू नगर, जयपुर-302015

डा० मनोहर शर्मा

जन्म—आश्विन कृष्णा 2, संवत 1973 (बिसाऊ, जिला-झूँझनू, राजस्थान)। शिक्षा—प्राइवेट तौर पर एम. ए.। 'राजस्थानी बात साहित्य' पर पी. एच. डी.। अध्यापन के साथ सन् 1934 से ही राजस्थानी भाषा के प्राचीन साहित्य की खोज में लगे रहे। लोक-साहित्य का संकलन-संपादन तथा राजस्थानी में नवीन साहित्य सर्जना। छोटे-बड़े प्रकाशित ग्रंथों की संख्या चालीस से भी ऊपर है और लगभग तीन सौ शोध लेख भी विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके है। पिछले 24 वर्षों से त्रैमासिक शोध पत्रिका 'वरदा' का अवैतनिक संपादन। कई सम्मानित संस्थाओं के सदस्य तथा कई संस्थाओं से आप पुरस्कृत भी हो चुके हैं।
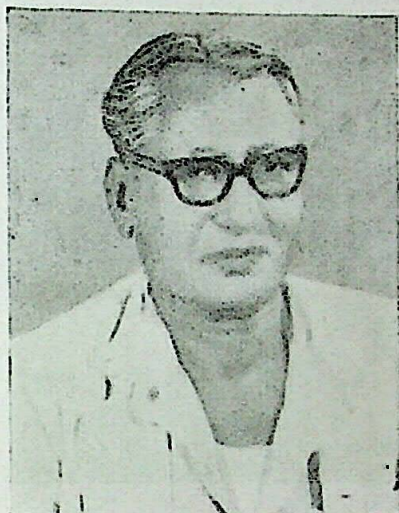
श्री मोहनलाल पुरोहित

जन्म—मिति माघ शुक्ला 14 संवत 1970 ( जैसलमेर, राजस्थान )।

शिक्षा बी.ए. तक। स्वाधीनता आन्दोलनके सक्रिय कार्यकर्ता रहे। सन् 1947 से 1977 तथ रेल विभाग में। रेलवे में आप 'मैन्स यूनियन' के प्रेसिडेंट भी रहे। सन् 1936 से ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेखन। सर्वाधिक प्रिय विषय 'राजस्थानी लोक-साहित्य'। करीब 200 शोध निबंध तथा 300 लोक कथाएँ लिख चुके हैं। लोक-साहित्य पर 20 पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें राजस्थानी लोक कथाएँ, राजस्थानी नीति दूहे, राजस्थानी व्रत कथाएँ, राजस्थानी प्रेम कथाएँ आदि प्रमुख हैं। श्री पुरोहित एक लंबे असें तक कर्मपक्ष ( दैनिक हिन्दी ) और 'जागती जोत' ( मासिक ) के सम्पादक भी रहे हैं।
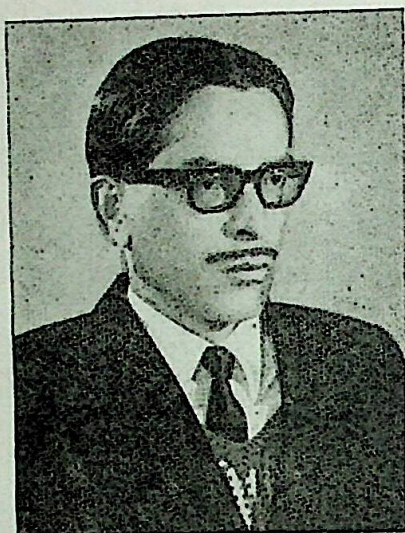
डा० रामनाथ

जन्म—9 मार्च 1933 ( आगरा )। शिक्षा-प्रथम श्रेणी में आगरा विश्व-विद्यालय से इतिहास में एम. ए.। 'मध्यकालीन स्थापत्य' पर वहीं से 1969 में पी. एच. डी. और 1975 में डी लिट्.। शोध कार्य : एम. ए. में आगरे की इमारतों पर। आगरा, फतेहपुर सीकरी के मुगल स्थापत्य पर। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की पहली शोध फैलोशिप मध्यकालीन स्थापत्य पर दूसरी, महाराणा कुम्भा-कालीन स्थापत्य पर। अन्तिम को छोड़कर सभी प्रकाशित हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बहुत से लेख प्रकाशित। अंग्रेजी में भी कई पुस्तकें प्रकाशित, जिसकी तालिका नीचे दी जा रही है—

(1) कलर डेकोरेशन इन मुगल आर्किटेक्चर, (2) दि इमोंटल ताजमहल, (3) हिस्ट्री ऑफ डेकोरेटिव आर्ट इन मुगल आर्किटेक्चर, (4) मनुमेन्टस ऑफ देहली, (5) दि आर्ट आफ खजुराहो, (6) इण्डिया ऐज सीन बाई अमीर खुसरो।

सम्प्रति राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में रीडर हैं।

वर्तमान पता—2/जी ए—11 जवाहर नगर, जयपुर-302004

## श्री रामवल्लभ सोमानी

जन्म--8-4-1931 ।

शिक्षा—बी. ए, साहित्यरत्न ।

(1) कृतियाँ–महाराणा कुंभा, (2) वीरभूमि चितौड़, (3) ऐतिहासिक शोध संग्रह, (4) हिस्ट्री ऑफ मेवाड़ ( अंग्रेजी ), (5) पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स ( अंग्रेजी ), (6) ए स्टडी ऑफ जैन इन्स्क्रीप्सन ऑफ राजस्थान ।

लगभग 1100 शोध निवन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अंग्रेजी और हिन्दी में प्रकाशित ।

श्री अगर चन्द नाहटा अभिनंदन ग्रंथ, खंड एक तथा दो का संपादन ।

## आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु निम्नलिखित संस्थानों ने
आर्थिक अनुदान दिये हैं—
अतः अ० भा० मा० सम्मेलन उनके प्रति विशेष आभारी है।

### अनुदान दाता

1. दि सेन्चुरी स्पि० एण्ड में० कं० लि०, वम्बई
2. मेसर्स केशवलाल तलकचन्द एण्ड कं०, ,,
3. मेसर्स नवनीतलाल एण्ड कं०, ,,
4. मेसर्स राणादीप शिपिंग एण्ड ट्रान्सपोर्ट कं० प्रा० लि० ,,
5. मेसर्स नारायण सिंह एण्ड कं० ,,
6. मेसर्स मनीलाल तलकचन्द प्रा० लि० ,,
7. मेसर्स देवीलाल रतनकुमार ,,
8. मेसर्स ट्रान्सवर्ल्ड सिपिंग सर्विसेज (1) प्रा० लि० ,,
9. मेसर्स गोकाक पटेल वोल्कार्ट लि० ,,
10. मेसर्स जोगानी ट्रेडर्स ,,
11. मेसर्स वसन्तलाल शान्तिलाल एण्ड कं० ,,
12. मेसर्स आन्ध्रा स्टील कारपोरेशन लि० विशाखापत्तनम्
13. केशोराम सीमेंट बसन्त नगर, करीम नगर, आन्ध्रप्रदेश
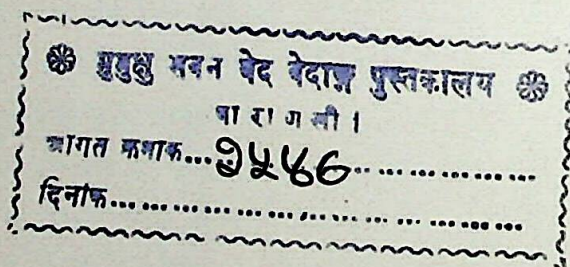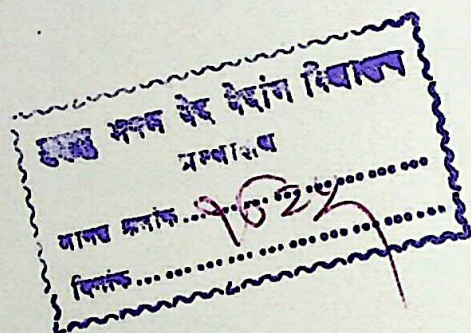
स्थापत्य का अध्ययन
करने वाले को राजस्थान की
शरण जाना ही पड़ेगा।

—डा० निहाररंजन राय